यादों की तीर्थयात्रा

कविता प्रकाशन, बीकानेर

यादों की तीर्थयात्रा

विष्णु प्रभाकर
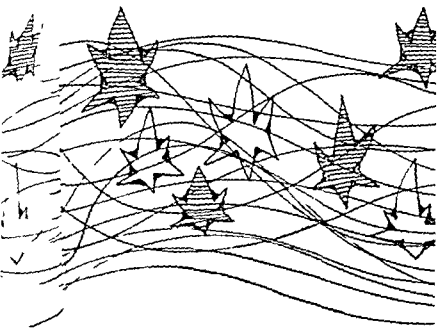
प्रकाशक कविता प्रकाशन, तेलीवाडा बीकानेर
मूल्य बीस रुपये मात्र
संस्करण प्रथम 1981
आवरण अवधेश कुमार
मुद्रक एच० आर० प्रिंटिंग सर्विस द्वारा
विकास आर्ट प्रिंटर्स शाहदरा, दिल्ली 32

YADON KI TIRTHYATRA (Memories) by
Vishnu Prabhakar Rs 20 00

मेरी कैफियत

'यादों की तीर्थयात्रा' यह नाम अपने में सब कुछ समेटे है। किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा उसे नहीं है। इनमें जिनकी यादों को हमने सहेजा है उनमें से अधिकांश हमारे श्रद्धास्पद रहे हैं। उनको याद करना तीर्थयात्रा करने जैसा ही है। इनमें कुछ ऐसे अग्रज भी हैं जिन्होंने हमारा मार्गदर्शन किया है। उनके प्रति भी हम नतमस्तक ही हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो आयु में हमसे छोटे रहे हैं जैसे- सर्वश्री जगदीशचन्द्र माथुर और भवानीप्रसाद मिश्र। भवानी भाई पर लिखने का अवसर तब आया जब उनकी साहित्य साधना के लिए उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। माथुर साहब की अकाल मृत्यु पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने 'परिषद पत्रिका' का स्मृति अंक निकाला था। उसी के लिए यह लेख हमने लिखा था। सच तो यह है कि अधिकांश लेख इसी रूप में लिखे गये हैं। शेष लेख उन व्यक्तियों के जीवनकाल में ही लिखे गए हैं। उनमें से पांच तो आज भी हमारे सौभाग्य से हमारे बीच में विद्यमान हैं।

यह सब बताने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि प्रायः ये सभी लेख विशेष परिस्थितियों में लिखे गये हैं, स्वतन्त्र रूप से उनका अध्ययन करने के लिए नहीं लिखे गये। फिर भी अध्ययन हुआ तो है ही यद्यपि दृष्टि शुभ और सुन्दर पर अधिक रही है। यूं भी कह सकते हैं कि हमने अपने आपको इस बात का अधिकारी नहीं समझा कि हम अपने गुरुजनों की चीर फाड़ कर सकें।

प्रशंसा करनी हो या निन्दा, हम भारतवासी दोनों ओर विशेषणों का प्रयोग करने में बहुत उदार हैं संतुलन और आत्म-सम्वरण हमारे स्वभाव

म नहीं है। हमम स अधिकाश यह भी मानते रह हैं कि हमे व्यक्ति के गुणा पर ही ध्यान देना उचित है दोषा वेषण नही करना चाहिए। व व्यक्ति भी कम नही हैं जो दोषा वेषण के प्रति ही अधिक उदार दिखाइ देते हैं।

कमजारी स कटकर कोई महान नही होता यह बात हम मानन का तयार ही नही दीख पडत। एसी स्थिति म यदि हम कहें कि हमारा मस्मरण, जीवनी और आत्म-कथा लखन सही अर्थों मे वास्तविकता स कुछ दूर ही होता है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

इस जटिलता के बावजूद हमने प्रयत्न किया है कि हम व्यक्ति के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए भी उनकी सही पहचान करा सकें। यह प्रयत्न कितना और कहा तक सफल हो सका है यह पाठक जानें।

हम तो उन सबके प्रति नतमस्तक हैं जिनके कारण यादा की यह तीथयात्रा सभव हो सकी।

८१८ कुण्डवालान
अजमेरीगट दिल्ली ६

—विष्णु प्रभाकर

१९८१

क्रम

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

जगदीशचन्द्र माथुर, यह नाम था उस व्यक्ति का, जो एक साथ प्रशासक साहित्यकार, नाटकविद और लोक-संस्कृति का उपासक था। और उसके इन सब रूपों को आवृत किये थी उसकी सहज मानव आत्मा। प्रशासकीय य य म आबद्ध उसकी यह आत्मा कभी-कभी इस तरह तड़फड़ा उठती थी कि यह क पड़ता चलो कहीं सड़क पर खड़ होकर नाच आए।

मुक्ति क लिए यह छटपटाहट माथुर साहब म निरन्तर बनी रही। यूनेस्को क प्राजेक्ट पर थाइलैण्ड जाते समय उ होने जो कुछ कहा था उसमें भी यही भाव निहित था। तब वह भारत सरकार के हिन्दी-सलाहकार थे। बोले जा रहा हूं यह मेरे लिए अच्छा ही है, क्योंकि मैं जानता हू कि सरकार हिन्दी क लिए कुछ नहीं करनेवाली। मैं उसम भागीदार नहीं होना चाहता। इसलिए यहा स मुक्ति पाना मेरे लिए हर्ष की बात है।'

लेकिन, वहा तो आप एक ही वर्ष क लिए जा रहे हैं।

हा पर समय बढ सकता है। लगता है वहा से अवकाश लूगा।

और वहीं रहते वह इंडियन सिविल सर्विस के चक्रव्यूह से मुक्त हो गए। लेकिन, नियति को शायद यही स्वीकार नहीं था कि वह साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अपने अधूरे सपने को पूरा करें। वह अचानक वहा चल गए जहा का जीवन का मार्ग अभी तक कोई प्राणी नहीं खोज पाया है।

माथुर साहब म अनेक गुण थ। उत्साह की तो कोई सीमा ही नहीं

थी। उस अति उत्साह की सत्ता दी जा सकती है। यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी और यही दुर्बलता भी जो उनके लिए शत्रु पैदा करती थी।

सन 1956 ई० में भारत में भगवान बुद्ध की 2500वीं जन्म जयन्ती जिस उत्साह और जिस स्तर पर मनाई गई उसकी तुलना खोज नहीं मिलती। एक तो भारत सरकार की कूटनीति थी पड़ोसी बौद्ध देशों को आकृष्ट करने की दूसरे तथागत के प्रति इस देश के बुद्धिजीवियों का अपनी आस्था भी कम नहीं थी। तीसरी सबसे बड़ी बात यह थी कि उस समय सूचना और प्रसारण मन्त्रालय का संचालन जिन व्यक्तियों के हाथों में था वे सभी साहित्य और संस्कृति के जाने माने नाम थे। मन्त्री थे डा० केसकर सचिव थे मराठी के प्रसिद्ध विद्वान डा० लाड और आकाशवाणी के महानिदेशक थे स्व० जगदीशचन्द्र माथुर। उन सबके कल्पना लोक में आकाशवाणी भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार का सबल और मायक माध्यम थी जो कुछ भारतीय संस्कृति और साहित्य में सर्वोत्तम है वही आकाशवाणी को प्रसारित करना है।

इस कल्पना को रूप देने के लिए कैसी कैसी योजनाएं बनीं। साहित्य समारोह संगीत समारोह नाटय समारोह राष्ट्रीय कवि सम्मेलन खुले प्रांगण में कार्यक्रमों का प्रसारण सीधे रंगमंच से नाटकों का प्रसारण आखों देखा संस्कृत में नाटकों का प्रसारण इत्यादि इत्यादि। आकाशवाणी जैसे वातानुकूलित स्टुडियो से निकलकर खुले आकाश के नीचे मुक्त प्रांगण में आ गई थी। *कैसी गहमागहमी थी उन दिनों! इसी गहमागहमी* को रूप देने के लिए एक योजना अस्तित्व में आई। वह थी प्रत्येक भाषा के प्रसिद्ध लेखकों को निर्देशक के रूप में आकाशवाणी में नोडन की। मैं भी उसी योजना के अन्तर्गत दिल्ली केन्द्र में नाटक विभाग का निर्देशक नियुक्त हुआ। स्वप्न में भी मैंने यह पद नहीं चाहा था लेकिन आश्चर्य एक दिन फोन पर स्व० महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की आवाज आती है विष्णु प्रभाकर जी माथुर साहब चाहते हैं और मैं भी चाहता हूं कि आप दिल्ली के नाटक विभाग में आ जाएं। सभी जाने माने साहित्यकार आ रहे हैं।

मैं चकित रह गया। यह गौरव बिना मांगे मिल रहा है लेकिन मैं

तो मुक्त रहने का निश्चय कर चुका था। उस समय टाल गया। माथुर साहब ने सीधे मुझसे कुछ नहीं कहा। नाना दिशाओं और नाना मित्रों के मुख से बहुत कुछ सुना। थय जस उन मवका था, लेकिन फोन फिर पत्नी का ही आया प्रभाकर जी हम सब चाहते हैं कि आकाशवाणी सरकार का केवल एक प्रचार तन्त्र बनकर न रह जाय। आप लोग आइए। वतन भी अच्छा है। रीडर का ग्रेड दे रहे हैं।'

माथुर साहब चाह और पत्नी जी फोन करें। मैं असमंजस में पड़ गया। मित्रों की और परिवारों की टटोला और अन्त में निश्चय किया कि तीन वर्ष के लिए प्रयोग कर देखने योग्य है।

लेकिन मैं उस मोर के पिंजरे में तीन वर्ष रह नहीं पाया। अट्ठारह महीने काटने भी मुश्किल हो गए। हां उतने समय में वहां जो कुछ देखा वह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मेरे 1955 ई० का सितम्बर का वह महीना मेरे साहित्यिक जीवन की विभाजक रेखा प्रमाणित हुआ। माथुर साहब को बहुत पास से देखा है। उनका स्नेह पाया। नोक झोंक भी हुई। लेकिन एक क्षण के लिए भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं किसी नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट) के नीचे काम कर रहा हूं। मेरे लिए वह एक मार्मिक मित्र ही बने रहे।

जीवन में पहली बार उनसे दिल्ली में एक सम्मेलन में भेंट हुई थी— किसी मित्र के माध्यम से। प्रथम मिलन की वह मधुर मुस्कान अंतिम मिलन के क्षण तक म्लान नहीं हुई। तब मुझे उन्होंने अपना एकांकी संग्रह भेंट किया था। उसके बाद एक दिन वह अचानक मसूरी में लाइब्रेरी के पास मिल गए। बड़े प्रसन्न हुए। बोले मुझे तो आपके एकांकी बहुत अच्छे लगते हैं। पता नहीं आपको मेरे नाटक कैसे लगते हैं?'

मैं तो उनके शिल्प और उनकी भाषा पर मुग्ध था। उनकी यह बात सुनकर स्तब्ध रह गया। वह भारतीय सिविल सर्विस के उच्च अधिकारी और मैं एक अजनबी दिशाहारा। जानता हूं, वह मुझसे शिष्टाचार नहीं बरत रहे थे, मन की बात कह रहे थे। भाई कांतिचन्द्र सौनरिक्सा ने मेरी जो छवि उतारी थी उसे देखकर भी उन्होंने यही कहा था, 'तुमने पचमुख विष्णु जी के भीतर के नाटककार को पकड़ा है।' यह आत्मश्लाघा

की रात नहीं है। उनकी गुणग्राहकता की बात है। वह गलत हो सकते हैं पर बेईमान नहीं।

बुद्ध जयन्ती का कार्यक्रम न भूतो न भविष्यति था। देश भर में धूम थी। एक एक दिन में कितने ही रूपक संगीत रूपक और नाटक प्रस्तुत करने पडते थे। सवेरे ही जाता और रात को ग्यारह बजे के बाद लौटता। उन दिनों न टेप थे और न रिकार्डिंग की इतनी सुविधा थी। लगभग सब कुछ सीधे प्रसारित होता था। हर क्षण चुनौती से मन रहती। हर क्षण महानिदेशक का आदेश आता अमुक बौद्धतीर्थ पर स्वयं जाओ। अमुक तीर्थ पर अमुक को भेजकर रूपक तैयार करो। अमुक शिलालेख जाकर देखो।

मुझे तक्षशिला जाने का आदेश था। लेकिन पाकिस्तान ने अनुमति नहीं दी। फिर भी मैं कल्पनालोक में वहां गया और रूपक तैयार किया। कान्सी जाकर भी रूपक तैयार किया। भारत के अनेक साहित्यिक इस प्रकार अनायास ही भगवान बुद्ध की शरण में पहुंच गए थे। दिन में जाने कितनी बार पुकारते बुद्धं शरणं गच्छामि संघं शरणं गच्छामि धम्मं शरणं गच्छामि। मैंने एक दिन महानिदेशक माथुर से निवेदन किया माथुर साहब सब सुविधाएं आपने दी हैं दो बातें और कर दीजिए।

मुस्करा कर बोले क्या ?

मैंने उत्तर दिया हम सबके लिए एक एक कमण्डल और एक एक जोड़ा चीवर और मगवा दीजिए।

व्यंग्य समझकर उनकी मुस्कराहट और बढ़ गई। पर इस जयन्ती की गाथा तो अनन्त लम्बी है। माथुर सा व गदगद थे। उतने ही गदगद वे तब थे जब सोवियत देश के तत्कालीन राष्ट्रपति बुलगानिन और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव भारत की यात्रा पर आए थे। दिल्ली तो जैसे पागल हो उठी थी और उस पागलपन को बड़ी सुष्ठुता में रूपायित किया था आकाशवाणी ने। प्रत्येक छोटा बड़ा अधिकारी उसमें भागीदार था। वैसी भावना भविष्य के लिए दुर्लभ है।

माथुर साहब के युग में आकाशवाणी ने वाणी के साथ आंखें भी पाई थीं। आकाशवाणी के लोग हर क्षण रिकार्डिंग मशीन लिये घूमते और

जनजीवन को लेकर कार्यक्रम तैयार करते। 'आँखों देखी' कार्यक्रम उन्हीं में एक था। उसके नाम को लेकर माथुर साहब कैसे चिंतित रहे! मेरे कमरे में सीधे फोन करते। श्रीरामचन्द्र टण्डन और मैं दोनों एक साथ बैठते थे। वहीं आते पंत जी, दिनकर जी, नवीन जी और नये-नये नामों और नये-नये कार्यक्रमों पर चर्चा करते। माथुर साहब ने प्रफुल्लित स्वर में कहा था, आप लोगों का कमरा एक क्लब की तरह होगा। साधक और साहित्यकार इकट्ठे होंगे। साहित्यिक विषयों पर चर्चा होगी।

कैसे-कैसे अनहोने स्वप्न देखे थे उन्होंने! कुछ तो उनके रहते ही नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) की चट्टान पर चूर-चूर हो गए। शेष उनके जाते न जाते तिरोहित हो गए। ज्वार पूरा होने न होते भाटा आ गया।

इसी गहमागहमी में एक दिन मैं बस से गिर पड़ा। बहुत चोट आई। पर महानिदेशक माथुर घर पर फोन कर रहे हैं, 'प्रभाकर जी सवेरे ही मेरे साथ मथुरा चलना है। कुछ आवश्यक कार्यक्रम रिकार्ड करने हैं।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं तो घायल पड़ा हूँ। बैठ भी नहीं सकता।'

वे बोले, 'हम कार में चल रहे हैं।'

मैंने कहा, 'मैं नहीं जा पाऊँगा, क्षमा करें।'

'नहीं जा पाओगे?' निराशा जैसे उनके स्वर में साकार हो उठी।

फिर एक दिन बुला भेजा। बोले, 'मैंने कठपुतली के लिए नाटक लिखा है। उसे प्रदर्शित करनेवाला दल भी स्टूडियो में है। उसे देख लो और नाटक का शेष भाग स्वयं पूरा कर दो।'

वह युग जितना उत्साह और गहमागहमी के लिए स्मरण रहेगा उतना ही वर्जनाओं के लिए भी। आदेश आते, 'साठ प्रतिशत नाटक हास्य व्यंग्य के होने चाहिए, पैंतीस प्रतिशत सामाजिक और ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक केवल चार प्रतिशत। त्रासदी कभी-कभी और सुखांत नाटक हों। अश्लीलता, अवैध प्रेम और मद्यपान इन सबका आकाशवाणी में प्रवेश वर्जित है।'

इन वर्जनाओं को लेकर बड़ी रोचक बहसें होती थीं। तब प्रशासक माथुर और साहित्यकार माथुर दोनों एक-दूसरे से उलझ पड़ते। महानिदेशक की स्थिति दयनीय हो उठती। काश, कोई उस युग

का फाइलों में ऐसी टिप्पणियों को एकत्रित कर सकें। मेरी स्थिति उस समय बड़ी विषम थी। क्या श्लील है और क्या अश्लील? कौन सा प्रेम वैध और कौन सा अवैध? इश्क और शराब ये शब्द डिक्शनरी से कैसे निकाले जा सकते हैं? दिमाग इसी भंवर में फंसा रहता। एक दिन मैंने केन्द्र निदेशक से पूछा, प्रेम कब अवैध होता है?

उनका उत्तर था, जब वह पति पत्नी के बीच होता है।

मैंने कहा, वह तो अनुबंधित प्रेम है और वास्तविक प्रेम साहित्य की तरह मानव आत्मा की बंधनहीन अभिव्यक्ति।

केन्द्र निदेशक हँसकर बोले, अनुबंधित प्रेम ही श्लील है, बाकी सब अश्लील।

मैंने महानिदेशक के दरबार में गुहार की। उत्तर मिला, बड़ा कठिन है निर्णय देना। बस आप बाल वृद्ध और वनिता का ध्यान रखिए। पात्र शराब पी सकते हैं पर अंत में उसे उचित नहीं ठहराइए।

प्रशासक माथुर ने साहित्यिक माथुर से समझौता कर लिया और मैंने अपना सिर पीट लिया। अनेक पूर्वप्रसारित नाटक वर्जित करार दे दिए गए। उनमें मामा वरेरकर तथा स्वयं मेरे नाटक भी थे। अच्छे लेखक आकाशवाणी के लिए लिखने से नाक भौं सिकोड़ने लगे। पंजाबी की सुप्रसिद्ध कवयित्री अमृता प्रीतम भी उन दिनों आकाशवाणी में थीं। मैंने उनसे निवेदन किया, मेरे लिए एक नाटक लिख दीजिए न?

मुस्करा कर वह बोलीं, विष्णु जी, आप तो जानते ही हैं। मेरे पास तो केवल इश्क है और वही आपके यहाँ वर्जित हो गया है।

इस त्रासदी का अंत यहीं नहीं हुआ था। एक रात मगन या इसी तरह के किसी ग्रह का चक्कर एक स्वर कल्पना (फंतासी) प्रसारित हुई। शायद याद रखता हूँ कि एक महिला समीक्षक ने बड़ी कटु टिप्पणी की उसपर। लिखा, मैं तो सुनकर पसीना पसीना हो आई। खिड़की खोलनी पड़ी मास जन की।

महानिदेशक माथुर ने उसे काटा। एक कागज पर नत्थी किया और लिखा, प्रोड्यूसर ड्रामा गुड मी... (नाटक निर्देशक इसे देखें)।

संयोग की बात, दूसरे पुरुष समीक्षक ने उस स्वर कल्पना (फंतासी)

की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। मैंने वह कतरन महानिदेशक की टिप्पणी के नीचे चिपका दी और लिखा, महानिदेशक कृपया इसे भी देखें।

तुरन्त कागज लौट आया, लिखा था, 'मेरा आशय आपके काय पर आक्षेप करना नहीं था। केवल सूचना देना था।

मैंने लिख भेजा बहुत बहुत आभार आपका। मैं भी सूचना ही दे रहा था।

हमारे बीच में कई मौदिया थी पर वे कभी हमारे माग की बाधा नहीं बनी। प्रसिद्ध बंगाली डायरेक्टर और अभिनेता श्री शम्भु मित्र उन्हीं दिनों अपने दल के साथ दिल्ली आए हुए थे। उनके नाटकों की धूम थी। एक दिन महानिदेशक का एक विचित्र सन्देशा मिला 'उनका एक नाटक रिकार्ड करके प्रसारित करो।'

मैंने कहा रंगमंच का नाटक ध्वनि नाटक कैसे बनेगा ?

उनका सुझाव था 'प्रयोग करके देखिए तो।'

शम्भु मित्र ने चेखव के सुप्रसिद्ध नाटक एनिवरसरी के आधार पर उसका मंचन श्रीमती तृप्ति मित्र लाहड़ी के प्रस्तुत किया था। उसी का मैंने रिकार्ड कर लिया। आकाशवाणी के वातानुकूलित स्टूडियो में केवल अभिनेता ही होते हैं पर वहां तो दर्शक थे, अतिरिक्त अभिनेता व पार्श्व कर्मी थे। वह नाटक जब प्रसारित हुआ, तब विचित्र विचित्र ध्वनियों के बीच मूल नाटक की आत्मा खोजे नहीं मिलती थी। समीक्षक ने लिखा रेडियो नाटक कैसा नहीं होना चाहिए, इसका यह सर्वोत्तम उदाहरण है।

पर प्रयोगधर्मी माथुर ऐसी टिप्पणियों से हतोत्साह हो उठें तो साधक कैसे ? उन्होंने विशेष रूप में श्री रमेश मेहता का एक नाटक आकाशवाणी के प्रांगण में मंचस्थ कराया और वहीं से वह प्रसारित किया गया। वह प्रयोग एक सीमा तक सफल हुआ। फिर तो कम काय क्रमों का सिलसिला चल निकला। आज भी कभी कभी दर्शकों का हर्षोल्लास वातावरण में गूंज उठता है।

माथुर लगभग सभी नाटकों को सुनते। उनपर चर्चा करते। प्रशंसा करने में कंजूसी उन्होंने कभी नहीं की। फिर भी मुझे लगता है वह

अपने अनेक रूपों के बीच से तुलन साधते साधते कभी कभी लडखडा भी जाते थे। प्रशासक अनुशासन के बिना काम कर नहीं सकता और साहित्यिक होता है फक्कड़। इसलिए उनकी न्याय तुला कभी इधर झुकती कभी उधर। कुर्सी पर बैठकर सहज मानव बने रहने की वह जी जान से चेष्टा करते लेकिन यह उनका दुस्साहस ही था। कुरसी अफसर के लिए होती है आदमी के लिए नहीं। माथुर का मैंने नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट) की तरह आदेश देते हुए भी देखा है। उनकी देहयष्टि नातिदीर्घ थी। जब वह अपने अधीनस्थ दीर्घकाय अफसरों के माथे पर त्योरियाँ डालकर आदेश देते तब मुझे नेपोलियन बोनापार्ट की याद आ जाती।

वे जितने मधुर और सौम्य थे उतने ही कठोर भी थे। सब कुछ लिखा भी नहीं जा सकता। पर वह दृश्य मैं नहीं भूल सकता। आकाशवाणी के एक छोटे अधिकारी संकट में थे। अनुशासन भंग का आरोप था उन पर। लेकिन वह साहित्यकार भी थे। महाकवि पंत ने बड़े विनम्र शब्दों में माथुर साहब से उनके लिए सिफारिश की। सहसा फाइल से दृष्टि उठाकर बीच ही में रोक दिया माथुर साहब ने। पंत जी मुझे मालूम है उनकी बात। पर यह आपकी चिन्ता का विषय नहीं है। मैं जानता हूँ मुझे क्या करना है।

महानिदेशक के उस कमरे में तीसरा व्यक्ति मैं ही था। साहब इतने कटु भी हो सकते हैं वह भी पंत जी से और एक साहित्यकार को लेकर। निश्चय यह अपराध कुछ गम्भीर रहा होगा। पर वह स्वर मेरे अन्तर में कसक उठा।

एक दूसरे अफसर का केस भी लगभग ऐसा ही था। उनकी ओर से माथुर साहब के एक परम मित्र ने उनसे कुछ कहना चाहा। तुरन्त जवाब मिला मैं जानता हूँ वह मेरे विभाग में काम करते हैं पर आपका इस मामले से क्या सरोकार है?

लेकिन ऐसे भी मामले हुए हैं जिनमें उनकी मञ्जु करुणा मुखरित हो उठी है। उर्दू के जाने माने शायर सलाम मछलीशहरी उन दिनों मेरे साथ काम कर रहे थे। जिन्दादिल दोस्त थे पर शराब पीते थे

बेदखता। घर और बाहर न फर्क करना उन्होंने नहीं सीखा था। एक पब्लिक मुशायरे में शराब में धुत उनसे कुछ गुस्ताखी हो गई। दुर्भाग्य से भारत सरकार के एक मुस्लिम मन्त्री भी वहां बैठे थे। उन्होंने शिकायत कर दी और बेचारे सलाम साहब का वेतन साढ़े पांच सौ रुपये से सिकुड़ कर सम्भवत साढ़े तीन सौ रुपये रह गया। बहुत हाथ पैर मारे उन्होंने। मुझसे बोले 'भाई साहब माथुर साहब से कहिए न!'

माथुर साहब सब कुछ जानते थे। बोले प्रभाकर जी उस बेचारे के साथ अन्याय हुआ है। कुछ कल्पना भी कर देते, भी तो ध्यान रखना चाहिए।

सलाम क्या ध्यान रखते! शेरो शायरी और शराब का तो चोली दामन का साथ है। लेकिन माथुर साहब ने अवश्य ध्यान रखा। सलाम का वेतन पांच सौ हो गया। कुछ हानि तो आखिर उठानी ही थी। एक मन्त्री के सामने सार्वजनिक स्थान पर शराब पीकर हंगामा किया था उन्होंने।

इन अट्ठारह महीनों में जिस जगदीशचन्द्र माथुर को मैंने देखा वह एक अनुशासन प्रिय प्रशासक, एक सहृदय साहित्यकार, एक सच्चा राष्ट्रभक्त, देश की संस्कृति में प्राण फूंकनेवाला एक कला साधक और सबसे ऊपर एक प्यारा दोस्त था। लेकिन मेरे प्राण तो उस पिंजरे में छटपटा रहे थे। मेरा स्वाभिमान कोई स्वीकार नहीं कर रहा था। एक दिन मैंने चुपचाप अपने सहयोगी श्री चिरंजीत को प्रभार सम्भलवाया और भाग आया। माथुर साहब को सूचना मिली तो उन्होंने डायरेक्टर जनरल से जवाब तलब किया, आपने प्रभाकर जी को क्यों जाने दिया? बुलाओ उनको।

लेकिन मैं नहीं गया। उनका सन्देशा आया—'दिल्ली केन्द्र में मन नहीं रमता तो डिप्टी चीफ प्रोड्यूसर के पद पर मेरे साथ चले आओ।'

मैं फिर भी नहीं गया। उन्होंने मुझसे कभी शिकायत नहीं की। हालांकि मैं शिकायतें करता रहा और वह सहज प्रेम से उत्तर देते रहे।

नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर दो कारणों से मुझे विशेष प्रिय रहे एक अपनी प्रयोगधर्मिता के कारण। मंच की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रक्रिया पर

उनकी दृष्टि रहती थी। कोणार्क उनकी कला का सर्वोत्तम उदाहरण था। उसमें एक भी नारी पात्र नहीं। फिर भी मानवीय संवेदन में ओत प्रोत है। पर मंजे हुए खिलाड़ी ही उसे मूर्त रूप दे सकते हैं। उनके एकांकियों में रीढ़ की हड्डी और भोर का तारा बहुत प्रसिद्ध हुए। विशेषकर रीढ़ की हड्डी जो आज के भारतीय समाज के घर घर की कहानी है। उनका रंग शिल्प और उनकी भाषा दोनों आकृष्ट करते थे। लोकनाटकों में उनकी सक्रिय रुचि उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण थी। प्रांत प्रांत की विशेषताओं को परखते वे थकते नहीं थे। अपने शासकीय जीवन के प्रारम्भिक वर्ष उन्होंने बिहार में बिताए। वहीं से उन्होंने लोककला को सहेजना शुरू किया। माना कि भारत की आत्मा उनकी लोककला में रही है। एक बार मैं केरल प्रदेश में घूम रहा था। जहां जाता सुनता कि अभी अभी माथुर साहब भी आए थे। त्रिचूर में उसे प्रदेश की बहुत पुरानी लोकशैली का मंच देखने गए थे।

उनकी प्रिय वैशाली को मैंने देखा है। उसके प्राचीन गौरव को फिर से सचेतन करने का अद्भुत कार्य किया था प्रशासक माथुर ने। इसी वैशाली से जुड़े थे भगवान महावीर, भगवान बुद्ध, सम्राट बिंदुसार और नगरवधू परमसुन्दरी आम्रपाली और प्रजातंत्र के उपासक लिच्छवियों की क्रीडाभूमि भी तो यही थी। सात हजार सात सौ सत्तर प्रासाद उतने ही कूटागार, आराम और पुष्करणियां सभी को इतिहास के खण्डहरों में खोज निकाला। वैशाली संघ और वैशाली महोत्सव की नींव डाली। जब तक माथुर वहां रहे वातावरण गूंजता रहा। वे केन्द्र में आए और बिहार में फिर से सब कुछ खण्डहर बन गया। कई वर्ष बाद उजड़ी हुई वैशाली को जब मैंने उनसे चर्चा की तो पीड़ा उनकी आंखों में भर भर आई। बोले, सुना तो मैंने भी है पर क्या कर सकता हूं?

बिहार को कितना दिया माथुर साहब ने! एक ओर संस्कृति के भवन का निर्माण किया, दूसरी ओर गांधी जी की बेसिक शिक्षापद्धति को रूपायित किया। वहां की लोककला को संवारा। वैशाली जनपद में प्राण फूंके। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, नवनालन्दा महाविहार, वैशाली प्राकृत शोध प्रतिष्ठान, नेतरहाट विद्यालय इन सबकी स्थापना में उन्हीं

का हाथ था। इसी कार्यकुशलता और उत्साह ने उनके विरुद्ध एक 'लाबी' तैयार कर दी थी। प्रदेश से केन्द्र तक उसका क्षेत्र था। वह केन्द्र में 'फ्रीज़र' में भेज दिए गए। उन्हें शिक्षा विभाग में नहीं आने दिया गया। सूचना और प्रसारण मंत्रालय में भी उनका प्रवेश वर्जित हो गया। अन्ततः कृषि विभाग से होकर भी वे धनस्का तक पहुंचे। लोग उनका विरोध क्या करते थे? क्योंकि वह साहित्य और संस्कृति की, लोककला की और मानवीय संवेदना की बात करते थे। केवल यांत्रिक प्रशासन, जमात राउट' बनकर रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। एक बार इसी सन्दर्भ में मैंने उनसे बात छेड़ी तो उनके चेहरे पर करुण मुस्कान बिखर गई। आंखें नीची किए अस्फुट स्वर में कुछ कहा और मौन हो गए। दर्द सहा जाता है उसका बखान नहीं किया जाता। मैं जानता हूं अति उत्साह जैसी मानवीय दुर्बलताओं के बावजूद वह कितने महान थे। महानिदेशक के पद पर आते ही उन्होंने आदेश दिया था जबतक मैं यहां हूं मेरे नाटक प्रसारित नहीं होंगे।

इसका अर्थ मैं जानता हूं। जाने कितनी संस्थाओं से वे जुड़े थे। कितने वरणीय कार्य उन्होंने किए थे। महानिदेशक के पद पर रहते हुए ऋषि-तपस्वियों के संस्मरण उन्होंने रिकार्ड कराए। वे आज इतिहास की सम्पत्ति हैं। केवल प्रशासक तो हिंसा अहिंसा का प्रश्न उठाकर उस बहुमूल्य सम्पदा को खो देता। प्रौढ़ शिक्षा का भी अन्त कार्य उन्होंने किया। संस्मरण लिखने में वे सिद्धहस्त थे। अपने स्तर और पद के बावजूद कितने महाप्राण व्यक्तियों, नाना क्षेत्रों के कितने विशिष्टजनों, शासकों, साहित्यकारों, कलाकारों, गायकों और साधारण कठपुतली का तमाशा दिखानेवाले से उनका गहरा सम्बन्ध रहा। इसका यत्किंचित प्रमाण मिलता है उनकी पुस्तक 'जिन्होंने जीना जाना' में। उनकी अन्तस्तल को भेद देनेवाली दृष्टि और मानवीय संवेदना के कारण वे चित्र बहुत ही भावप्रवण हो उठे हैं। उनके सारे कार्यक्षेत्र उनकी सहज मानवता से प्रभावित थे। उनकी शिशुसुलभ मुस्कान, उनका मुक्त सहज व्यवहार भुलाए नहीं भूलते। याद आता है, जब राहुल जी होश गवा बैठे थे तब अनेक मित्र उन्हें देखने गए थे। माथुर भी आए उनसे मिलने।

राहुल जी के लिए सब एक रूप थे। उनकी पत्नी उनकी बेटी बन गई थी। सहसा माथुर साहब उनके बहुत पास आकर बैठ गए। बोले राहुल जी, मुझे नहीं पहचाना ? मैं जगदीशचन्द्र माथुर हूं।

राहुल जी ने करुणाविह्वल नेत्रों से उन्हें देखा। फुसफुसाए भैया! भैया!

माथुर कहते रहे— मैं तब विहार में कमिश्नर था और आप जेल में थे। मैं आपसे मिलने गया था और अमुक अमुक विषय पर चर्चा हुई थी।

माथुर अतीत को कुरेदते जा रहे थे। हम वर्तमान में स्तब्ध-से खड़े थे। राहुल जी की तरल आंखें चमक रही थीं भैया भैया हां जेल में था। तुम आए थे। तुम माथुर हो न ? हां हां जगदीशचन्द्र माथुर। भैया बड़ी पुरानी याद दिला दी तुमने।

माथुर साहब के चेहरे पर दिव्योल्लास फूट पड़ा। राहुल जी कई क्षण सतृष्ण नेत्रों से देखते रहे। फिर यथापूर्व शून्यवत हो गए।

जगदीशचन्द्र माथुर ने पश्चिमी उत्तरप्रदेश में एक छोटे से नगर में एक शिक्षाशास्त्री के घर जन्म लिया। अपनी प्रतिभा के बल पर इण्डियन सिविल सर्विस में चौथा स्थान पाया। उनका कार्यक्षेत्र बना विहार। वहां की शिक्षा और संस्कृति में नये प्राण फूंक उठे हैं। फिर महानिदेशक के पद से भारत की समग्र संस्कृति को रूपायित करने की प्राणपण से चेष्टा की। फिर माथुर साहब एक दिन चुपचाप चले गए। बहुत कितना काम पड़ा था अभी करने को ! कितना किया उसका लेखा जोखा कौन ले इस कृतघ्न संसार में जहां हर व्यक्ति चक्षुश्रवा के रोग ज्वर से पीड़ित है। वह नेक थे इसलिए विरोधी पैदा कर लेते थे। ऊंचाइयों में ऊंची उड़ानें भरते थे यह उनकी दुर्बलता थी। पर उतनी ही सचाई से धरती की बातें भी करते थे और उड़ानों को रूप देते थे। वह नेक ही नहीं ईमानदार भी थे। और आज की दुनिया में विशेषकर भारत में ईमानदार होना खतरनाक है क्योंकि बेईमानदारी आदमी को बदनाम कर देती है।

श्री जैनेन्द्रकुमार

मुझ ठीक याद नही परन्तु वह सन 1930 क आसपास की बात है। मैं पजाब क एक पूर्वी नगर म रहता था। एक दिन बठक म बठा हुआ कोई उपन्यास पढ रहा था कि एक प्रौढ महिला न बिना किसी सकोच क वहा प्रवश किया। मुझे उनका रूप आज भी स्मरण है—लम्बा कद, धवल वस्त्र, गौर वर्ण और मुख पर मृदु मुस्कान—किसी उद्देश्य के लिए अपन को अपण कर दनवाली भिक्षुणी की तरह वह मुझ लगी। उनक व्यक्तित्व म जो मधुर मातत्व छिपा हुआ था उसन मेरे किशोर मानस को दुलारा। उनके हाथ म एक रसीदबुक थी और व किसी महिला-सस्था के लिए चन्दा मागन आई थीं। चन्दा तो उन्ह मिला ही पर जबतक मेरे मामा अन्दर स धन लावें तबतक मुझे उनका परिचय भी मिला। उन्होने मुझस पूछा क्या पढ रहे हो?

मैंन उपन्यास का नाम बता दिया। सुनकर व बाली 'परख पढी है?'

जी नही। किसने लिखा है?'

जैनेन्द्रकुमार न।

अच्छी पुस्तक है?

'उस पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी से पुरस्कार मिला है।'

मैंन सोचा, जिस पुरस्कार मिला है वह अवश्य महान लेखक है। मैंन तुरन्त उनसे कहा, आप मुझे उस पुस्तक के मिलने का पता बता दीजिए। मैं जरूर पढूगा।'

बातें आगे बढ़ी। उन महिला ने बताया जैनेन्द्र मेरा लड़का है।

यह कहते हुए उनका सारा अस्तित्व उल्लास से भर उठा। उनके नेत्रों से झरते हुए तरल पदार्थ ने मुझे श्रद्धा से भर दिया। मुझे याद है कि तब मेरे मन में एक विचार उठा था क्या मैं भी जैनेन्द्र जैसा बन सकता हूं?

जैनेन्द्र से मेरा प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ था। जननी से जिसका परिचय मिले उसके भाग्य से ईर्ष्या होनी चाहिए। आत्मीयता तो उसमें होती ही है। उसके बाद उनकी पुस्तकों ने इस परिचय को और भी पुष्ट किया। एक बार दिल्ली में कम्पनी बाग की किसी सभा में दूर से उन्हें कंधे पर चादर डाले देखा—इकहरा बदन मझोला कद प्रशस्त ललाट और प्रमुख नासिका बातें करने पर अन्तर में उतर जाने को आतुर आंखें और तदनुसार कुछ कुछ तनी हुई ग्रीवा—देखता रहा पर पास जाकर उनसे बातें करने का साहस नहीं पा सका। कहां वे हिन्दी के महान लेखक कहां एक क्षुद्र पाठक!

पर भाग्य की प्रतिहारी—एक दिन मैं भी लिखने लगा और साहस इतना बढ़ा कि नीर क्षीर विवेकी हंस (मुंशी प्रेमचन्द का हंस) तक जा पहुंचा। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के बाद मेरी कई रचनाएं उसमें छपी और तभी जाना जैनेन्द्रकुमार उसके सम्पादक हो गए हैं तब उनको भेजने लगा। यह सितम्बर 1937 की बात है। एक कहानी दिल्ली के पते पर भेजी और फिर उत्सुक हृदय से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। यद्यपि बाद साहब ने उस कहानी को अच्छी बताया था पर मेरे लेखक के लिए तो वह तभी अच्छी हो सकती थी जब परख के पुरस्कार विजेता लेखक उसे अच्छी कहें। आखिर उनके हाथ का लिखा 20 सितम्बर 1937 का कार्ड मुझे मिला—

प्रिय महाशय

कहानी मिली। उसे वापसी छपने के लिए भेज रहे हैं। अपनी कहानी में भावना को मुनासिब यानी कम भी हो जाने दें और उसकी

जगह Purpose का काठिन्य आ जाय तो मुझे कहानी और भी रुचे। लिखते रहिए।

विनीत—जैनेन्द्रकुमार

पत्र का और कुछ भी असर क्या न हुआ हो, उसने उस दुविधा को निश्चय ही दूर कर दिया जो मुझे उनसे मिलने में हो रही थी। मैं दिल्ली पहुंचा। शायद वह अक्तूबर 1937 के पहले या दूसरे सप्ताह का कोई दिन था मैं अपने बड़े भाई के साथ दरियागंज में उनके निवास स्थान पर पहुंचा। कई क्षण हम जीने के नीचे खड़े रहे। सम्भवतः तभी श्रीमती जैनेन्द्र कहीं से आ रही थीं। उनसे पूछा, जैनेन्द्र जी यहीं रहते हैं?

वे बोलीं, ऊपर हैं, चलिए।

पर हम आगे कैसे चलें? आखिर उन्होंने स्वयं आगे बढ़ते हुए कहा, आप हिचकते क्यों हैं? नि:संकोच चले आइए।

शायद इस चुनौती ने हमें बल दिया। ऊपर के कमरे में कई व्यक्तियों के बोलने का स्वर आ रहा था। और जैसे ही हमने अन्दर प्रवेश किया वैसे ही सबकी दृष्टियां हमारी ओर उठीं। मैंने देखा—वह छोटा सा कमरा, जिसके एक कोने में एक मेज कुर्सी पड़ी है, चटाई पर बैठे हुए व्यक्तियों से भरा हुआ है और बीच में टहल रहा है एक इकहरे बदन और मझले कद का व्यक्ति जिसने केवल बनियाइन और जांघिया पहना है और कंधे पर डाला है तौलिया। मैं शक्ल से जैनेन्द्र को पहचानता था। इसलिए यह समझने में कोई कठिनता नहीं हुई कि घूमनेवाले व्यक्ति वे ही मिलते हैं। मैंने प्रणाम किया और उन्होंने बैठने का संकेत। साथ ही उनकी दृष्टि ने पूछा, कहां से आना हुआ?

परिचय मेरे भाई ने दिया। नाम सुनते ही जैनेन्द्र जी बोल उठे, You write remarkably well (तुम विशेष रूप से सुन्दर लिखते हो।)

इस वाक्य ने मुझे कितना बल दिया, यह निश्चय ही मैं आज शब्दों में ठीक ठीक न बता सकूंगा। मैं उनके कमरे की अकिंचनता को बिलकुल ही भूल गया और यह भी भूल गया कि यहीं बैठकर इस व्यक्ति ने अपने

साहित्य का निर्माण किया है। एक नये लेखक से इस प्रकार का व्यवहार उन दिनों (आज तो और भी अधिक) निःसंदेह अकल्पनीय-सा लगा। उनसे मेरा यह पहला प्रत्यक्ष परिचय था। पहले परिचय की बहुत कहावतें प्रचलित हैं। दो ध्रुवों के अंतर के समान अंतरवाला प्रथम ग्रास मक्षिकापात और Love at first sight (चक्षुराग) जैसी उक्तियाँ किसी कवि की कपोल-कल्पना नहीं हैं। वे किसी मर्मज्ञ के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम हैं। उस दिन मेरा अनुभव दूसरी उक्ति के आसपास था। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन्नत ललाट की छाया में स्थित नासिका के आसपास अन्दर को दबे-से जो दो नयन हैं और जो कहीं दूर झाँकते जान पड़ते हैं, आपको पकड़ लेने की उनमें पूरी शक्ति है।

उन्होंने मुझे भी पकड़ा। मेरा भय कम हुआ और मेरी तबीयत में जो अवसाद था उसने रहने का निमन्त्रण लेकर मैं लौटा। लेकिन इससे पहले कि मैं कुछ करने का साहस बटोर सकूँ, उन्होंने और भी गहरी आत्मीयता से उस निमन्त्रण को दोहराया। एक महीना बाद नवम्बर 1937 के अन्तिम सप्ताह की बात है। शरत्कालीन रात्रि के गहरे सन्नाटे और घने कुहरे से आच्छादित अपने छोटे-से नगर की एक सुनसान गली में मैं टिमटिमाती हुई लालटेन के सामने बैठा लिख रहा था। तब अनायास एक शब्द उस सन्नाटे को आलोडित करता हुआ उठा—विष्णुजी कहाँ रहते हैं? मैं कुछ चौंका, फिर भी वह पहली पुकार मैंने अनसुनी कर दी। परन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वर फिर उठा, फिर उठा। तब मुझे भी उठना पड़ा। अन्धकार में से झाँककर मैंने पूछा, कौन साहब?

सन्नाटे में वही स्वर गूँजा, जैनेन्द्र।

पहचानने में मुझे और पढ़ने में आपको देर लगेगी, पर मेरे शरीर में ऊपर से नीचे तक सिहरन दौड़ने में देर नहीं लगी—जैनेन्द्र! इस समय? यहाँ? ... मौन रहा था और गिरता-पड़ता दौड़ा आ रहा था। किवाड़ खोलकर किसी तरह कहा, नमस्ते। आप इस समय ...!

जवाब दिया, हाँ, इधर आना हुआ, सोचा तुमसे मिलता चलूँ, बंगाली पर मैंने तुम्हारी गली का नाम पढ़ा था।'

बड़ी कृपा की आपने ।

'अरे कृपा क्या इसमें है' उन्होंने कुछ हंसकर कहा । फिर ऊपर चढ़ते चढ़ते पूछा 'बड़ा सन्नाटा है ?'

जी छोटे शहर में रात जल्दी आ जाती है और फिर यहां तो बिजली भी नहीं है ।

वे वहीं मेरे पास फर्श पर बैठ गए । चारों तरफ मेरा सामान बिखरा पड़ा था । उन्होंने पूछा क्या लिख रहे हो ?

मैं तब आश्रिता कहानी लिख रहा था । उसी की चर्चा शुरू हो जाती पर मैंने बात को घुमा दिया । कुछ और चर्चा चल पड़ी । वे बातें करते जाते थे और साथ ही मेरी प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण भी । उन्होंने मेरे पेन का जो खुला रह गया था बंद करके रख दिया । फिर सामने दीवार पर लगे हुए स्वामी दयानंद तथा महात्मा गांधी जी के चित्रों को देखा और बोले, सफलता तब है जब लेखनी की शक्ति वाणी में आ जाए । लिखी हुई बात में जितनी आतुरिकता है उतनी ही बोली हुई बात में हो । तब संतोष हो ।

शब्द मेरे हैं पर भाव उनका है । स्पष्ट ही उनका लक्ष्य वे दोनों महापुरुष थे । आज जो उनमें प्रवचन देने की या प्रश्नोत्तर पद्धति को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति है उसके मूल में यही महत्त्वाकांक्षा की भावना है ।

लौटते समय जब मैं कुछ दूर तक उनके साथ गया तो उन्होंने मुझसे पूछा क्या तुम इधर मेरी पुस्तकों के प्रचार का प्रबंध करवा सकते हो ?'

मरुभूमि में कोई पानी की मांग करे ऐसी वह बात थी । इस बात से मुझे कुछ धक्का भी लगा । क्या लेखक को अपना लिखा बेचना भी पड़ता है ? पर यह विषयान्तर है उस क्षण तो उनकी आत्मीयता ने मुझे जीत लिया था । इस पराजय में मुझे सुख मिला । इसके बाद रहा सहा व्यवधान भी जाता रहा और मन में एक निर्जीपन का आविर्भाव हुआ । उन्होंने पहले पत्र में मुझे प्रिय महोदय कहकर सम्बोधित किया था पर इस घटना के छः सात दिन बाद 'आश्रिता' कहानी पाकर उन्होंने लिखा—

भाई विष्णु जी

आश्रिता कहानी अभी मिली। अभी देख भी ली। बहुत अच्छी मालूम हुई। मुझे ईर्ष्या होती है। इतनी सूक्ष्मता हिंदी में तो देखने को नहीं मिलती। क्या मैं बधाई दूं।

लगभग मात्र तीन महीने के अल्प काल में ही प्रिय महोदय से मैं भाई विष्णु जी बन गया। इस आत्मीयता ने मेरे साहित्य का क्या कुछ किया उसका मूल्यांकन सहज नहीं है। जिस काल में मेरी हत्या हो सकती थी उसी काल में मुझे इतना स्नेह मिला। इस गौरव का श्रेय अकेले मेरा नहीं है जैनेन्द्र जैसे मित्रों का भी है।

पर जैनेन्द्र जो ऊपर से इतने सरल दिखाई देते हैं क्या वे सचमुच सम्पूर्ण रूप से सरल हैं? फिर एक घटना याद आ रही है। सन् 1938 में मेरा विवाह हुआ था। भाई यशपाल के साथ वे भी बारात में गए। हरिद्वार जाना था। मार्ग में रुड़की के पास नहर के किनारे रुकने की व्यवस्था थी। न जाने कैसे उस पार पत्थर फेंकने की प्रतियोगिता शुरू हो गई और मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जैनेन्द्र जी अनायास ही सबसे आगे निकल जाते हैं। यह अचरज मुझे ही हुआ हो सो बात नहीं। अक्सर जब लोग सुनते हैं कि जैनेन्द्र मान हुए खिलाड़ी हैं या सिद्धहस्त तैराक हैं बहुत अच्छी साइकिल चला लेते हैं तो उन्हें भी सहसा विश्वास नहीं होता। उसका कारण है उनका व्यक्तित्व और उनकी वेषभूषा। वे सादगी से रहते हैं। अवश्य सादगी नहीं उसका स्थान तो कहीं गन्दगी के आसपास है और महत्त्वाकांक्षी गन्दा नहीं रह सकता। लेकिन हमने सादगी के कुछ अर्थ मान लिए हैं इसीलिए उन्हें देखकर अक्सर लोगों को धोखा हो जाता है। एक बार एक बंधु ने किसी का शाल ओढ़ रखा था। उसे देखकर वे बोले आपको यह शाल सजते हैं खरीद लो न! दूसरी बार एक मित्र उनके पास इसलिए आए कि वे उनके साथ चन्दे के लिए चलें। उन्होंने पूछा, कितने चन्दे की बात है? बात बहुत बड़ी नहीं थी। वे बोले आप मुझसे दस बीस की क्या बात करते हैं? हजार-दस हजार की करिये। तब मैं आपके साथ चल सकता हूं। एक बार फिर किसी

सम्बन्ध म उन्होंने कहा था 'क्या बताऊँ मकेण्ड क्लास म ट्रवेल करने की आदत पड गई है । इधर उन्हें वायुयान प्रिय हैं । तो यह सब अस्वाभाविक नहीं है । य घटनाएं उनकी दिखाइ देनेवाली रहन महन की सादगी के पीछे जो गहरी महत्त्वाकाक्षी छिपी हुई है, उस उभारती है ।

साहित्य की चर्चा करत हुए उन्होंने मुझस कहा था कि धम विचार म मैं मक्म और अथ इन दाना को ही मनन और अवेषण का विषय मानता हू । पौन क ना भागा की तरह मक्म जड की भाति धरती क नीचे पलती है और अथ पत्र पुष्प क समान धरती क ऊपर फनता है । उनक जीवन म जा जटिलता न उसका कारण इन शब्दों म उपस्थित है । जनेन्द्र या अहिंसा म विश्वास करत हैं, अहिंसा और महत्त्वाकाक्षा का मेल कैसा ? अनहोनी सी बात लगती है पर जो साध सकता है उस साधक क लिए अनहोनी कुछ नहीं है । जनेन्द्र इस दृष्टि म साधक हैं । वे युद्ध म सदा निडर और तूफान म मग्न शात रहन का प्रयत्न करत हैं । उनपर हमला होता है तो व कभी उग्र रूप धारण नहीं करत । अन्दर म उबलकर भी व शात रहना चाहत हैं पर व बदला न लत हों सा बात नहीं । व बदला लत हैं एसा नम हैं कि हमलावर तिलमिला उठता है उसी तरह जिस तरह व तिलमिलाए थ । तिलमिलात म तो बदला कैस लत ? दिल्ली की सुप्रसिद्ध साहित्यिक सस्था शनिवार समाज म उनपर एक लख पढा गया था । अनजान ही वह कुछ असन्तुलित हो गया था । उनक व्यक्तित्व पर काफी करारी चोटें थी । उन्होंन उसका उत्तर दिया यद्यपि देना नहीं चाहत थे । उस उत्तर की एक बात मुझे याद है । उन्होंने कहा था कि इस लेख म मैंन अपन चेहरे को तो देखा ही पर साथ ही आलोचक का भी देखा ।

आलोचक पर यह हथौडे की चाट थी । आलोचक यदि अपन लेख म रह जाना है तो उसका अध्ययन विषयगत (Objective) न होकर आत्मगत (Subjective) हो जाता है । उस यह अधिकार नहीं है ।

जनेन्द्र का उत्तर दना आता है । और उसम जो अथ गर्भित रहत हैं वे सुननवाल क दिल को पकड लत हैं यह उनकी प्रतिभा का प्रसाद है और इसी प्रसाद क कारण उनके साहित्य म प्राण है । अगस्त 1950

की बात है। रेडियो स्टेशन पर उनकी नियुक्ति की चर्चा चल पड़ी थी। लोग तरह तरह की बातें करते थे। मैंने भी उनसे पूछा सुना है आपकी नियुक्ति रेडियो-स्टेशन पर हो रही है?

वे बोले एसा तो हो ही नहीं सकता।

क्यों?

क्योंकि हम रेडियो में जाएंगे नहीं रेडियो पर हम को कोई बुलाएगा नहीं। क्योंकि रेडियो रेडियो है हम हम हैं।

इस प्रखरता की एक और घटना याद आ रही है। सुना है कि एक बार कुछ मनचलों ने एक आधुनिक क्लब में हो रही भरी सभा में उन्हें छकाने के लिए प्रयत्न किया। कहा आप शराब नहीं पीते। उसमें क्या दोष है?

सभा सभ्य लोगों की थी और सभ्यता वह प्राचीन न थी। जैनेन्द्र जी ने कहा दोष शायद यही है कि उसका नशा उतरता है।

पर यह प्रखरता तो असिधारा व्रत के समान है। असंतुलन का अर्थ स्पष्ट मृत्यु है और कोई सौभाग्यशाली मृत्यु से बच भी जाए परन्तु गलतफहमी का शिकार तो वह होगा ही। दिल्ली में उन्होंने हिन्दी परिषद का आयोजन किया था। एक वन्धु जो हृदय रोग से पीड़ित थे अचानक अस्वस्थ हो गए। मुख्य अधिकारी वे उनके आत्मीय थे। मैं तब अकेला ही रोगी के पास था। मैंने जैनेन्द्र जी को सन्देशा भेजा। उनका घर दूर नहीं था पर वे नहीं आए। सौभाग्य से वे बन्धु इस योग्य हो गए कि उन्हें घर छोड़ आया जा सकता था। बस वे बन्धु स्वयं बड़े साहसी थे पर मैं जैनेन्द्र जी के न आने से बड़ा क्षुब्ध था। उन बन्धु को घर पहुंचाकर मैं उनके पास पहुंचा और न आने का कारण पूछा। उन्होंने कहा मैं आता भी तो क्या करता? करनेवाला तो भगवान था। फिर तुम थे।

माना उनका तर्क गलत नहीं था पर दुनिया तो इस तर्क से नहीं चलती। आत्मा की ऊंचाई के पीछे छिपकर छुआ नहीं पाई जा सकती। इसीलिए सब गड़बड़झाला है। इसलिए व्यवहार और आदर्श में अन्तर है। अन्तर ही अन्तर है पर क्या इसके लिए उन्हें दोष देना होगा? मनुष्य को दोष देने का नहीं दोष स्वीकार करने का अधिकार है। स्वयं जैनेन्द्र

यही मानते है। उन्हे भी इसी दृष्टि मे आंकना उचित है। असाध्य आत्मा की साधना तपस्या है तपस्या मे पतन की गुजाइश अधिक रहती है पर इसी कारण जो तपस्या मे डरकर बैठा रह जाय उस अभाग मे तो गिरने वाला लाख बार बड़ा है।

जनेन्द्र आलसी कहे जाते है। असल मे बात यह है कि मस्तिष्क की असाधारणता उनके हाथ पैर नही चलने देती। शरीर मे मस्तिष्क की अधिनायकता है। मुझे याद है शीत ऋतु मे किसी दिन वे मेरे बड़े भाई और मैं तीनो सवेरे लगभग 9 10 बजे बैठे तो सन्ध्या को 6 बजे तक बातें ही करते रहे और यही क्या उस दिन हिन्दू कालेज की एक सभा मे तो उन्होंने अपनी अकर्मण्यता का सुन्दर परिचय दिया। वे सभापति थे। हाल खचाखच भरा हुआ था। वे भाषण देने खडे हुए। माग हुई, कहानी सुनाइए। जवाब मिला, 'अच्छी बात है।

और जब तक मैं कुछ सोचू उन्होंने बोलना भी शुरू कर दिया। उसे बातचीत कहना ठीक होगा। उनका और उनकी पत्नी का कोई झगडा था दफ्तर मे आने और भोजन न करने का घर घर होनेवाला झगडा पर जिस ढग से उन्होने उसका वर्णन किया उससे वह विद्यार्थियो से भरा हुआ हॉल हँसी मे बराबर आन्दोलित होता रहा।

ऐसे व्यक्ति को और कुछ भी कहा जा सकता है, पर आलसी नही कहा जा सकता। लेकिन आलसी वे न हो पर अव्यावहारिक अवश्य हैं और एक सीमा तक असहिष्णु भी। असहिष्णु इस अर्थ मे कि उन्हे विरोधी से काम लेना नही आता। उसपर योजनाए बना लेते हैं करते कभी नही। उनकी सभा परिषदें इसी अव्यावहारिकता की शिला पर खण्ड खण्ड हो गयी कि वे दूसरे के दृष्टि बिन्दु को स्वीकार नही करेंगे और सबसे अपनी शर्तों पर काम करवाना चाहेगे। पर यह कहना कि वे अविश्वासी हैं उनके प्रति अन्याय करना है। पर साथ ही यह भी सच है कि अव्यावहारिक आत्मा मे सब दोष समा जाते हैं। उनको टिकने का स्थान भी मिल जाता है।

जनेन्द्र जो नहीं हैं वह बनाना चाहते हैं, पर उसके लिए जो शक्ति चाहिए वह उनके पास नही है। व्यक्ति मे अधिक प्रवृत्ति का अभाव है

इसलिए गडबड है । जने द्र क जीवन म यही उलयन है यही सघष है। पर यक्ति जैन द्र की जो असफलता दिखाई देती है आलोचक लोग लखक जन द्र की वही मफलता बताते है। इनके साहित्य म असाध्य का साधन की पुकार ह प्रयत्न भी है पर किमी दिन व सुलझ सके तो उनका साहित्य युग युग का सन्देश बनने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

जने द्र जी ने किसी विश्वविद्यालय मे शिक्षा नही पाइ । जो कुछ उनके पास है वह स्वय उपार्जित है। इसका कारण उनकी प्रतिभा है और प्रतिभा अन्तर की शक्ति ह । शक्सपियर डिके स गोल्डस्मिथ बालजक और टगोर इत्यादि ऐसे ही प्रतिभासम्प न लेखक थ पर जनेन्द्र की साहित्य प्रतिभा म दाशनिक की सी एक अजाब उलझन है कभी कभी वह इतनी जटिल हो उठती है कि पाठक उस भेद नही पाता— कहा पार नहीं कहो किनारा नहा। आख के ठहरने का कोई सहारा नहा। लकिन यह जटिलता केवल जनेन्द्र की कलम म हो यह बात व स्वीकार नही करत । यह तो इसी दुनिया की गडबड है— सब गडबड ही गडबड है। सष्टि गलत समाज गलत। जीवन ही हमारा गलत। सारा चक्कर यह ऊटपटाग । पाठक की आखें इस कभी नही दखती। उसक जीवन म इतना सघष कहा है जो वह साहित्यिक जनेन्द्र को पा सके ! जो जीवन म है वही साहित्य म है। तभी जनता को पहचानकर भी जनेन्द्र जनता स दूर हैं। इसीलिए पाठक उनम उतनी श्रद्धा नही रखता जितना उनके नाम का आदर करता है।

उलझन का एक और कारण है। उनक चित्र म रग गहर नहा होत। वस्तु म तो छायाचित्र बनकर रह जात है। फिर विचारा का बाहुल्य (मस्तिष्क के अधिनायकत्व के कारण) उनकी कहानियो को बोझिल बना देता है। उनकी चासनी का रस सूखता जा रहा है। भाषा भी एक वडा कारण है। उनके पीछे जो अहम है उस चीरकर कोई विरला ही भीतर पठता है। जो पठता है वह शाति पाता है। दूसरे लोग अशान्ति मान लकर उन्हें कोसते हैं।

लकिन कुछ भी हो जनेन्द्र जनेन्द्र हैं। शब्द वाक्य भाव भाषा और शली सबपर जनेन्द्र की छाप है। उनके भीतर शक्ति का स्रोत है पर

तथाकथित अकमण्यता (तथाकथित इसलिए कि मूल म व महन्शावाकांक्षी हैं) के कारण उन्होंने अनुपात म बहुत कम लिखा है। उनकी दृष्टि पनी और बुद्धि नया सजन करनेवाली है। सग्रह और अनुवाद उनके स्वभाव क अनुरूप नहीं हैं। अनुवाद तो उनकी अपनी रचना म जैसा हो जाता है। अध्ययन की शक्ति भी उनम उतनी नहीं है। व निर्विवाद रूप स एक मौलिक कलाकार हैं और उन्होंने साहित्य म एक मौलिक शैली का निमाण किया है।

जनेन्द्र जी क प्रशसक और निन्दक दोनों यथष्ट हैं। इधर उनके आलोचकों की सख्या बढ़ती जा रही है। उनका आरोप है कि आज की कोई भी समस्या उन्हें आन्दोलित नहीं कर सकी। बगाल का अकाल, विश्व महायुद्ध साम्प्रदायिक हत्याकाण्ड कोई भी उन्हें विचलित नहीं कर सका। नई पीढ़ी की शिकायत है कि व प्रगतिशील नहीं है। पुरानों की शिकायत है कि उन्होंने सक्स के विकृत रूप का प्रचार किया है। यह सभी की शिकायत है कि व समाप्त हो रहे हैं। कभी-कभी व स्वय भी कह देते हैं हम लगता है कि हम समाप्त हो रहे हैं।'

परन्तु यह सत्य नहीं है। प्रतिभाशाली कभी समाप्त नहीं होता, मत्यु क बाद भी नहीं। जीवन म तो वह किसी भी क्षण चमक सकता है। प्रश्न कवल अकमण्यता पर चोट करने की है। कलाकार यदि युग की उपेक्षा करता है तो वह युग का निमाण भी करता है। जनेन्द्र के विचारों म वह आग है जिसपर राख पड़ती जा रही है पर वह झाड़ी भी तो जा सकती है। जैसे इन का उदय धूमकेतु की तरह हुआ था और आज भी पर दर म सही—धूमकेतु फिर भी तो उदय हो सकता है!

और धूमकेतु क्या? नभ का झिलमिलाता हुआ एकाकी तारा क्या पथिक को राह नहीं दिखा सकता?

श्री सियारामशरण

1

दिसम्बर 1937 की बात है। मैं जीवन सुधा के सम्पादक भाई यशपाल से मिलने उनके कार्यालय में गया था। बातों बातों में वे बोले सुना आज सियारामशरण जी आए हुए हैं।

मैंने अचरज में कहा सियारामशरण जी यहां हैं ?''

हां ! आओ उनसे मिलकर जाना।

मैं दुविधा में पड़ा—सियारामशरण जितने बड़े कवि मैं उतना ही छोटा लेखक ! न जाने क्या मेरा जी नहीं किया। मैंने कहा मुझे काम है। कल आऊंगा।

यशपाल बोले अरे ऐसा भी क्या काम है आओ।

और मुझे आना पड़ा। उनके बारे में तबतक मैं बहुत कुछ पढ़ चुका था। विशाल भारत' में प्रकाशित उनका चित्र तो मुझे बहुत ही प्रभावशाली लगा था—उन्नत ललाट उभार स्थिर दृष्टि और सबसे अधिक चेहरे का भोलापन ! मैंने सोचा—कितना सुन्दर होगा यह कवि ! और तब मैंने मृण्मयी का जो तभी प्रकाशित हुई था कविताएं गुनगुनाते हुए उनके कई मनभावने चित्र अपने मानस पट पर खींच डाले। देखा—उनके उन्नत ललाट पर रामानन्दी तिलक है सिर पर पतली सी चोटी है वे सफेद खद्दर का धानी कुरता पहने हैं उनकी आंखों में तभी जीने में पदचाप सुन यशपाल बोल उठे लीजिए मामा जी विष्णु आये हैं।

आदर आनन्द की ध्वनि हुई और मैंने देखा कि जैसे द्वार जी सामने

बठे है। उव पास ही उक्ड ् मे वठे एक वद्ध पुरुष काई पुस्तक या पत्रिका देख रह हैं। आहट पाकर उ होने मरी ओर दखा और मैंन उन्हे। सहसा मन म उठा—काल चक्र के थपडे खाया हुआ यह व्यक्ति कितना थक गया है !

ठीक इसी समय जन द्र जी ने कहा, आप सियारामशरण हैं।

बिजली सी कौंधी। मैंने सभलकर दखा—य सियारामशरण ? सियारामशरण यह ? नही ! यह तो उस चित्र की छाया भी नही। सिर पर रूखे उलझे बालो का जगल। मोटे खद्दर का कुरता और घुटनो तक की धोती और शरीर जस जीवन विहीन किसी निर्विकार भार म दवा हुआ !

2

जनेन्द्र जी न दिल्ली म जो साहित्य-परिषद बुलाई थी, उसकी घटना है। सवालक म, हम चाहते थे कि सभापति क समथको म सियारामशरण जी का नाम रहे। उनस प्राथना की गइ लेकिन व तो काप ही उठे हम ! लोगो न तक किया —आपको केवल समथन करना है। लेक्चर नही देना। वे बोले 'हम तो कभी बोले ही नही। कसे कहेंगे !

और कहते-कहते व जस काप स उठे !

मैंने सोचा इतना बोदा, इतना कमजोर व्यक्ति ! छि छि !!

और उनस मैंने कहा 'आप खडे होकर केवल इतना कह दीजिए कि मैं सभापति पद के लिए श्री मशरूवाला जी के नाम का समथन करता हू। बस !

उन्होने यही कहा और मैं देख रहा था—व एक एक शब्द पर काप रहे थ उनकी मुद्रा साफ साफ कह रही थी—हम भी क्या इतने बडे काम क योग्य है ?

यह विनम्रता थी या आत्म निषेध ?

फिर उन दो-तीन दिनो म मैं कई बार उनके नजदीक बठा। बातें की। उन्हे देखा तब जाना कि यह जो व्यक्ति सियारामशरण इतना झुका लगता है यह निरन्तर का झुकना नही है बल्कि यह उस शक्तिशाली का

झुकना है जो अपनी शक्ति से बराबर इनकार किए जा रहा है और जो मानता है कि वह एक क्षुद्र एक छोटा सा नगण्य जीव है।

सियारामशरण भोले नहीं हैं। उन्हें कोई ठग नहीं सकता परन्तु साथ ही वे भी किसी को ठग नहीं सकते। चाहे तब भी नहीं। वे इस विद्या में कोरे हैं। वे जो कुछ हैं यह है कि उन्हें विश्वास है कि वे कुछ भी नहीं हैं और इसी नकारात्मक अस्तित्व में उनका बड़प्पन है। इसलिए उनकी क्रान्ति शान्त है और उनका विद्रोह विनयी है।

परन्तु अपने में उन्हें जितना अविश्वास जान पड़ता है दूसरे में उतना ही विश्वास है। यह प्रकृति आत्म ज्ञान से उपजी है। इसी से उनको अपने में इतना घोर अविश्वास अखरता नहीं है और दूसरों में विश्वास उनके प्रति श्रद्धा पैदा कर देता है।

सियारामशरण देखने में बीसवीं सदी में वैदिक युग के माडल जान पड़ते हैं उनकी प्रवृत्ति भी धार्मिक है। यह प्रवृत्ति कभी कभी बड़ी उग्रता से जाग पड़ती है पर उग्रता तो उनके स्वभाव में रह ही नहीं सकती। इसलिए एक समय पीड़ा उन्हें घेर लेती है। वहाँ सत्यवती मल्लिक की ओर से दी गई चाय पार्टी में श्री 'अज्ञेय' ने फिल्म लेने का प्रबन्ध किया तो सियारामशरण जी की धार्मिक भावना जैसे तड़प उठी वात्स्यायन जी! यह क्या करते हैं आप?

सियारामशरण ने अपने जीवन में बहुत कष्ट उठाए हैं। प्रियजनों के वियोग की मानसिक पीड़ा और चिरसंगी दमे की शारीरिक यातना ने उन्हें बरबस तपस्वी बना दिया है। परन्तु इसी व्यथा के भार में दबकर वे इतने प्रेरणा और प्रोत्साहन से भर उठे हैं। जिससे देह उनके यह अभिशाप जग के लिए वरदान बन गए हैं। जहाँ पीड़ा है वहाँ पवित्रता है। यह प्रसिद्ध उक्ति सियारामशरण की जीवन रूपी अनुभव धानशाला में पूरी तरह प्रमाणित हो चुकी है। सियारामशरण विनयी इतने हैं कि यदि कोई उनकी ठीक बात में दोष निकाले तो वे मान लेंगे—गलती हो सकती है। क्योंकि वे मानते हैं वे निर्भ्रान्त नहीं हैं। जो निर्भ्रान्त नहीं है वह कभी भी गलती कर सकता है। और कोई उनसे कहे कि आपकी अमुक रचना बड़ी सुन्दर है तो कहनेवाला उनकी आँखों में बहनेवाली तरल

कृतघ्नता का सह सकेगा ? लज्जा से उनकी आखें स्वयं झुक जाएगी। इतनी निश्छलता इतना आत्म दान लेकिन इतना कुछ देकर भी वे स्वयं छूछे रहते हैं।

व्यक्ति सियारामशरण जितना झुका है कवि उतना ही ऊपर ही-ऊपर उठा जा रहा है। उसने अपने में डूबकर वेदना की कूचों से वे चित्र अंकित किये हैं जिनमें रोज का जीवन है, उपमा है पीडा है वेदना है कसक है पर आराम कहीं नहीं है चेतावनी भी नहीं। मात्र संकेत है जो सीधा हृदय में जा बठता है। क्योंकि उसके पीछे स्वयं कवि का अनुभव मूर्ति मान हो उठा है। मानो कवि कहता है कि मुझे देखो और समझो। मेरे मुह से मेरी कथा सुनने की आशा मत करो। इसी से वे बोलते कम हैं सुनना ज्यादा चाहते हैं। जीवन या साहित्य, सब जगह वे विशुद्ध मानवता मानी हैं।

सियारामशरण जी का ज्ञान पीपासा बड़ा तीव्र है। जन्मजात प्रतिभा न होने पर भी वे इतने बड़े कवि बन गए हैं। वे कोष के सहारे ही अंग्रेजी के बड़े बड़े कवियों की रचनाएं पढ लेते हैं। एक बार मैं उनसे कह बैठा, आपका रेखाचित्र लिखने की बात जी में उठी है।

उन्होंने उत्तर दिया, 'बात उठी है तो दबा न दीजिए। किसी के लिए उसका रेखाचित्र एक दर्पण के समान होता है। व्यक्ति अपना चहरा उसमें देखकर सुधारने का अवसर पाता है। आत्म सुधार की इस प्रवृत्ति ने उन्हें मन्द ऊपर उठाया है।

गहन-गम्भीर विषयों की बहस में, अथवा राजनीति की दलदल में उनका मन नहीं लगता। धारा सभा का अधिवेशन या नई दिल्ली की सैर उन्हें अधिक प्रिय है। कवि जो ठहरे। वे मानते हैं कि अनजाने रह कर ही वे कुछ मौन सेवा करते हैं। इसी कारण लोग उन्हें गलत समझते हैं और इसी कारण वे बहुत दिनों से उपेक्षा के पात्र बने रहे।

बात यह है कि मूलत सियारामशरण जी बौद्धिक नहीं हैं। उनकी मौलिकता परिश्रम और स्वाध्याय की मौलिकता है। विनय और श्रद्धा ने उनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति पैदा कर दी है। इसी के द्वारा उनकी

प्रतिभा को बल मिला है बुद्धि से नहीं। बुद्धि के सहारे वे आत्म निषेध की भावना का नहीं पा सकते थे। बुद्धि अहम को अस्वीकृत नहीं कर सकती और न इकाई को भलन ही देती है।

परन्तु सियारामशरण जी आत्म निषेध की इतनी प्रबल भावना को लेकर भी बुद्धि से नफरत नहीं करते। उनका नारी उपन्यास पढ़ मैंने उन्हें अनेक बातों के साथ लिखा था मुझे लगता है कि चिट्ठीवाली बात कुछ उलझन में फस गयी है।

उन्होंने उत्तर दिया यह हो सकता है पर पाठक उलझन में फस यह तो तुम चाहोगे ही। उलझन में फसे बिना वह लेखक को जान ही कैसे सकेगा ? यानी उलझन को सुलझाने के प्रयत्न में ही पाठक लेखक को पहचानेगा यह उनका तर्क था। मैंने सोचा—यह आदमी कुछ भी हो बाहर का नहीं है अन्दर का है।

तो ऐसे हैं सियारामशरण जी जिन्हे काल पुरुष ने पीडा के पालने में डाल कर खूब झुलाया है। वे शरीर से जर्जरित और आत्मा से व्यथित हैं पर फिर भी क्रोध से अछूते हैं। वे अखण्ड विद्रोही हैं पर दाहकता से रिक्त हैं। रुक रुककर निकलनेवाली सांस के कारण उनकी वाणी गम्भीर है। वे देखने में जरूरत से ज्यादा ग्रामीण मालूम होते हैं पर उनका हृदय सौजन्य और सौहार्द से परिपूर्ण है। उनके नेत्र पीले पड़ गए हैं पर अनुभूति और अनुराग उनमें बराबर छलकते रहते है।

और इसी कारण वे स्वयं एक कुशल कवि एक कर्मठ कलाकार तथा दूसरों के लिए साकार प्रेरणा बन गए हैं।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

लगभग चालीस वर्ष पुरानी बात है। कनखल के बाजार में गुजर रहा था कि दृष्टि ताँगे में अकेले बैठे एक प्रौढ़ सज्जन पर जाकर ठहर गई। वह कुछ उत्तेजित थे और किसी विरोध प्रदर्शन का नकर विज्ञप्तियाँ बाँट रहे थे। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा कठोर दृष्टि और रोब प्रकट करती मूँछें—मेरे साथी ने बताया देखो यह हैं प० किशोरीदास वाजपेयी।

उन्हीं की चर्चा तो मैं कर रहा था। गद्गद होकर बोला मैं इनसे मिलूँगा।

मिल लेना दुर्वासा के अवतार हैं। हमेशा युद्ध छेड़े रहते हैं।

तब से लेकर आजतक उनके बारे में यही कुछ सुनता आ रहा हूँ। रुद्र रूप परशुराम और दुर्वासा के अवतार चुनौतियाँ देते हैं और ध्वंस करते हैं।

लेकिन रुद्र दुर्वासा परशुराम सब ही तो शंकर से जुड़े रहे थे और शंकर शिव भी है औघड़दानी भोले भण्डारी। वे ताण्डव नृत्य करते हैं तो वर भी देते हैं। जो अकल्याणकर है उसका नाश करते हैं। जो कल्याणकर है उसका निर्माण करते हैं। डा० राममनोहर लोहिया से एक बार मैंने पूछा था, आप मात्र ध्वंस की बात करते रहते हैं। निर्माण के बारे में नहीं सोचते ?

एक क्षण मौन रहकर तीव्र स्वर में उन्होंने कहा था, पहले ध्वंस कर लूँ तभी तो निर्माण होगा !

तो हर निर्माण में पहले ध्वंस अनिवार्य है। ध्वंस और निर्माण एक

ही प्रक्रिया के दो रूप हैं।

वाजपेयी जी के जीवन का सम्यक् अध्ययन करने पर पता लगेगा कि उनकी मूल प्रवृत्ति में निर्माण की ही कामना निहित है।

प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर किसी प्रसंग में जब डाक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने घोषणा की कि हिन्दी वर्तनी की समस्या लगभग सुलझ गई है तो दर्शकों की अग्रिम पंक्ति में बैठे वाजपेयी जी तीव्र प्रतिवाद करते हुए उठ खड़े हुए बोले लगभग नहीं मैंने उसे पूरी तरह सुलझा दिया है।

डाक्टर स्नातक ने बड़े आदर के साथ अपनी बात समझानी चाही क्योंकि पूर्ण तो कुछ नहीं है पर वाजपेयी जी अडिग थे और अपनी बात कहते कहते वे मंडप से बाहर चले गए। इस घटना को सम्मेलन के विरोधियों ने बहुत उछाला। वाजपेयी जी यदि ध्वंस में विश्वास करनेवाले होते तो इस बात से बड़े भ्रम में होते परन्तु उन्होंने इस प्रवृत्ति का विरोध करके इस सम्मेलन को अभूतपूर्व सफल घोषित किया।

वाजपेयी जी का प्रारम्भिक जीवन त्रासदायक घटनाओं से जूझते बीता है। बहुत कच्ची आयु में माँ तथा अन्य प्रियजनों का विछोह सहना पड़ा उन्हें। फिर क्या नहीं किया उन्होंने। भैंसें चराई चाट बेची मिल में मजदूरी की पर सरस्वती-मन्दिर की पुकार अनसुनी न कर सके। उनका कार्यक्षेत्र अनेक करुण कहानियों से आप्लावित है तथा उसके बाद तो भारत के अनेक नगरों को अपने में समेटे हुए है। गोविन्द से किशोरीदास बनने तक की कहानी संघर्ष की अद्भुत कहानी है। अन्त में आकर जीवन की नौका कनखल की गंगा के किनारे आकर लगी।

कनखल साधारण नगरी थोड़े है। यहीं पर तो शिव ने अपनी प्रिया सती के आत्मदाह से क्रुद्ध होकर प्रजापति दक्ष के यज्ञ के साथ स्वयं दक्ष का भी ध्वंस कर दिया था। वाजपेयी जी भी हिन्दी में फैली अराजकता को भाषा और साहित्य का अपमान समझते हैं इसीलिए उसके प्रतिकार में निरन्तर खड्गहस्त रहे हैं लेकिन उनका खड्ग मात्र वाणी या शब्द के माध्यम से नहीं कर्म और नव निर्माण के द्वारा ध्वंस करता रहा है। पुरानी स्थापनाओं को हटाकर उन्होंने तर्क सम्मत नयी स्थापनाएं करने की

चेष्टा की है। इसलिए कनखल, अत्र मात्र दक्ष घाट क कारण ही नहीं स्मरण किया जाएगा आचाय वाजपेयी के कारण भी उसका महत्त्व आका जाएगा। आधुनिक युग क इस पाणिनि का लोग कनखल की विभूति क रूप म सदा याद रखेंगे।

कनखल मेरी ससुराल है। मेरी पत्नी के भाइया के वे गुरु रह हैं। और गुरु भी एस जा अपन आप म विद्या का निवास मानत है लकिन मेर लिए कनखल का वहा महत्त्व है जा शिव क लिए हिमालय का और विष्णु क लिए सागर का। इसलिए भी वाजपयी जी मेरे लिए आदरणीय हैं। दिल्ली म एक बार मैंन उनस निवदन किया वाजपयी जी ! मर घर चरणधूलि नही डालेंगे ?

मुस्कराकर उ होने उत्तर दिया 'प्रभाकर जी आपके घर चलन का अथ है पर आऊगा किसी दिन।

उनक अनक राजनीति और धम सम्बधी म तव्यो स मेरा गहरा मतभेद रहा है झुझलाया भी हू पर उनके अगाध ज्ञान के प्रति मैं नत-मस्तक हू, पर ज्ञान भी अपन आप म सब कुछ नही है। ज्ञान बढ जाता है तो बुद्धि ठहर जाती है। वास्तव मे मैं उनकी कमठता, लगन और साधना क प्रति श्रद्धानत हू। वह पाणिनि हा या न हा तपस्वी और निर्भीक साधक निश्चय ही हैं। मितमुक्ति साधना की पहली शत है।

ब्राह्मण सावधान, का उत्तर हो या अच्छी हिदी का या शब्दानु शासन या रस और अलकार हो वह अपनी बात बिना किसी छल छद्म क पर शालीन और तक सम्मत भाषा म कहत हैं। कूटनीति स वह बहुत दूर हैं। वह निश्छल सत्य बोलने म विश्वास करत हैं भल ही वह अप्रिय हो। वह उनकी असमथता हो सकती है अपराध नहीं।

काश वे कुनैन पर चीनी की चाशनी चढाना जानत ! पर तब व आचाय किशारीदास वाजपेयी न रहत। हरेक का अपना व्यक्तित्व होता है। उसी स उसकी पहचान होती है। भीड म कौन किसका जानता है ! जाना उसी को जाता है जो लीक म हटकर चलन का साहस करता है।

वाजपेयी जी कठोर हैं, पर जो कठार है उसक अन्तर् म कामलता

बम ही समाई रहती है जस पवत म पयस्विनी । जो कामल नहीं है वह विनोदप्रिय हो ही नहीं सकता । श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डन क सम्मान के लिए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद प्रयाग गए उस सभा की एक घटना स्मरण हो आई है । साहित्यकारों की एक अनौपचारिक सभा म हास्य विनोद का वातावरण चरम सीमा पर था । मूछों को लेकर सभी मजेदार संस्मरण सुना रहे थे कि *वाजपेयी जी बोल उठे भाग्या एक बार मैंने भी आजकल क बछड़ा की तरह मूछें मुड़वा दी थीं ।*

चकित विस्मित एक व ध्रु ने पूछा आपने मूछें मुड़वा दी सच ?

दूसरे साहित्यकार बोले फिर हुआ क्या ?

वाजपेयी जी न उत्तर दिया होता क्या ! पत्नी न घर म ही न ी घुसने दिया । बोली मरद की पहचान मूछ ही तो होती है ।

फिर ?

हसी के ठहाक क बीच वाजपेयी जी बोले फिर क्या देख ही रहे हो मूछें लौट आई है ।

पता नहीं यह रसिकता दुर्वासा या परशुराम म थी या नहीं पर शकर महाराज म भरपूर थी इसलिए वाजपेयी जी की सही पहचान दुर्वासा और परशुराम क माध्यम स नहीं दक्ष महर्ता शकर क माध्यम म ही हो सकती है । यू डा० सीताराम चतुर्वेदी न मूछ रखने का एक रहस्य यह भी बताया है कि जब वह दूध पीते हैं तो सारी मलाई छनकर निखालिस दूध पेट म जाता है ।

उत्तर प्रदेश सरकार न जब दस हजार रुपय की राशि देकर उनका सम्मान किया तो व उस दिन मच पर नहीं गए । स्वय प्रधान मन्त्री ने नीचे आकर उनको सम्मानित किया । इस घटना को लेकर भी बहुत ऊहा पोह मचा । लकिन मेरी राय म उनका यह प्रतिरोध सही था । सम्मान लिया नहीं जाता दिया जाता है । आधुनिक युग का पाणिनि व्याकरण की इस भूल को कम नजरअन्दाज कर सकता था ।

लकिन भारतीय भाषा विज्ञान के रचयिता वाजपेयी जी भाषा विज्ञान क क्षेत्र म ही शुद्धता क पक्षपाती नहीं हैं देश भक्ति के क्षेत्र म भी व वस ही सक्रिय रहे हैं । पर दु ख कातर देश भक्त क रूप म बहुत कम लोग उन्ह

पहचानते हैं। व कारागार म रह हैं उनकी पुस्तक जब्त हुई चुनाव भी लडा है, पर पस क अभाव म जा हा सकना था वही हुआ लेकिन उस क्षेत्र म भी व उग्रपंथियों क साथ रह। वास्तव म उनक अन्तर म धधकती अग्नि उन्ह सदा अन्याय का प्रतिकार करन को उकसाती रही। उनस बहुत सी बाता म तीव्र मतभेद हा सकता है पर इस बारे म दो राय नहीं हा सकती कि एसा व्यक्ति न चाटुकारिता का शिकार हा सकता है न किसी प्रलाभन का। वह होता है बस सतत निस्पृह और निर्भीक याद्धा। एस याद्धा का आजस्वी वाणी ही भविष्य क पथ का आलाकित करती है।

उसी निर्भीक याद्धा को मेरे विनम्र प्रणाम।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

एक और चिता धधकी। लपटें उठी धुए की लकीरों ने एक और कहानी लिखी। एक और अकेलापन शांत हो गया।

शांतिप्रिय द्विवेदी हिंदी साहित्य के एक ऐसे चरित्र थे जो हमेशा अनबूझ पहेली बने रहे। स्वभाव से अत्यन्त सहज सरल। निष्कपट इतने कि प्रतिक्षण मूर्ख बनने को तयार रहते। जो सीधा सरल है वही तो मूर्ख है। आज के साहित्य में अकेलापन और अजनबीपन की बड़ी पुकार है। शांतिप्रिय द्विवेदी प्रयोगवादी साहित्यिकों और तथाकथित मित्रों की लम्बी भीड़ में सही मानों में अजनबी और अकेले थे। इकसठ वर्ष के अपने जीवन में शायद ही कभी उन्होंने उस अपनत्व को अनुभव न किया हो जिसका आधार हार्दिक स्नेह है। परिवार में मात्र एक बहिन थी जिससे उन्होंने मां की ममता और बहिन के स्नेह को एक साथ पाया। लेकिन वह भी अन्त दिन तक अपने इस बावरे भाई की देखरेख नहीं कर सकी। मां के अभाव में असह्य कष्ट उठाकर इसी साध्वी बहिन ने इनका लालन पालन किया। शांतिप्रिय द्विवेदी इस निष्कपट स्नेह को कभी नहीं भूल सके। उसकी चर्चा चलने पर वे न जाने किस लोक में खो जाते थे।

उन्हें मैंने पहली बार सभवत दिल्ली में भाग की दुकान पर अकेले खड़े देखा था। अंतिम बार भी वाराणसी में भाग की दुकान के सामने देखा। चारों ओर से प्रताडित होकर जैसे वहीं उन्हें शांति मिलती थी। जैसे वे अपने ही में खो जाने को आतुर रहते हों। काश वे खो सकते! लेकिन उनमें सदा एक तड़प रही—कुछ पाने की कुछ करने की। पाने

के प्रयत्न म उन्हें सदा लाछना और उपेक्षा मिली। इक्सठ वप तक अभाव और उपेक्षा क भवर म वे माना अपने अभिशप्त जीवन का भार लिय तिनके की तरह मडराते रह। दन क नाम पर उस अपढ-अनपढ ने इतना कुछ दिया कि हिंदी साहित्य क इतिहास म उसका नाम सदा क लिए अंकित हो गया।

मात्र हडिडयो का एक ढाचा खादी का लम्बा कुरता धोती टोपी और आखा पर मोटे लेंस का चश्मा पैरो म चप्पल—प्रथम दष्टि म वे बिलकुल एस लगत थ जस काइ रल्ला व्यक्ति बुद्धिजीविया के दल म आ घुसा हो परन्तु अपनी आत्मा का वे पहचानत थे। वे यह भी जानत थे कि उन्ह मूख बनाया जा रहा है पर माना मूख बनन म उन्ह आन द आता था। उनक अन्तर म स्नेह की अनेप प्यास थी और उस प्यास का शान रखन की चष्टा म व छल जात थे। भवभूति का-सा सात्विक गव उनम था और व अपन दान को नगण्य मानने का भी कभी तयार नहीं थ। वीर कवि गिरिधर म भी अपन का वडा ग्रीट समयन का दावा उन्होंने मात्र आवेश म ही नहीं किया था। उनका यह विश्वास था कि किसी न न तो उन्ह पहचाना और न उनकी कद्र ही की। यही शिकायत उनक जीवन की त्रासदी है।

उनको लकर अनक मूखता भरी कहानिया प्रचलित हो गई था। उनक मित्र रस लेने पर उनक अपमानित लाछित होन यहा तक कि उनके पिटन तक की बातें कहत सुनत थ। लकिन किसी न कभी उनका समझन की चष्टा नहीं की। आज जब वे नहीं रह तो सभी उस व्यथा का अनुभव करत हैं।

उस दिन होजकाजी के चौराहे पर जब हम दोनो स्टशन जान क लिए ताग की तलाश कर रहे थ तो वे बोल मैं उसी ताग क रिक्श म बैठूगा जिसका चालक गा सकता हो।'

तब मुझ हसी आ गई थी। फिर भी मैंन न जान कितन रिक्शा और तागवालो स यह प्रश्न किया। उनम स अधिकाश न आश्चय स मरा ओर दखा फिर विस्मय स मुस्कराए और चल गए। कुछ एस भी थ जिन्होंन गान क स्थान पर गाली स ही हमारा स्वागत किया। लेकिन

शान्तिप्रिय द्विवेदी थे कि सब ओर से निश्चिंत गानेवाले चालक की खोज में संलग्न रहे और अन्त में एक संगीत प्रिय चालक मिल ही गया। वह मनचला पठान हम सारे रास्ते हीर सुनाता रहा और शान्तिप्रिय झूमते रहे। वे तब कितने गदगद हुए थे! मैं उनके उस रूप को देखता और अनुभव करता कि इस व्यक्ति ने अभी शैशव को भी पार नहीं किया है। जीने के लिए शैशव कितना आवश्यक है! बड़े से बड़ा बुद्धिजीवी भी किसी न किसी क्षण इस आकांक्षा से आक्रान्त हो ही जाता है। इस सब के मूल में क्या उनकी सौन्दर्य की अदम्य प्यास ही नहीं थी?

एक दिन मैंने भोजन के लिए अपने घर आमंत्रित किया। कुछ और व्यक्ति भी आनेवाले थे। ठीक समय पर पाया कि शान्तिप्रिय ही नहीं पहुँचे हैं। तभी किसी कार्य वश मुझे हौजकाजी जाना पड़ा। देखता हूँ कि भोग की दुकान के सामने वे अकेले ही खड़े हैं। मैंने उनसे कहा 'घर पर आपकी राह देखी जा रही है। सभी लोग आ गए हैं। आप क्यों नहीं आए?'

बोले 'ऐसे ही मन नहीं किया।'

मैंने कहा 'अब चलिए मेरे साथ।'

वे सहसा बोले 'चल सकता हूँ, लेकिन भोजन नहीं करूँगा।'

मैंने कहा 'चलिए तो सही, भोजन की बात भी देखी जाएगी।'

वे घर आए। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी वहीं पर थे। बहुत देर तक हम लोगों का हँसी मजाक चलता रहा। जब थालियाँ आयीं तो वे एक ओर जा बैठे। बोले 'मैं भोजन कर चुका हूँ।'

चतुर्वेदी जी के आग्रह पर भी उन्होंने खाना स्वीकार नहीं किया। लेकिन जब फूली फूली पूरियाँ परोसी गईं तो उनके चेहरे पर मुस्कराहट खिल उठी। ललचौंही दृष्टि से जो प्रशंसात्मक ही अधिक थी देखते हुए बोले 'भाग्य दिये! कैसी सुन्दर कलापूर्ण पूरियाँ बनी हैं! सचमुच किन्हीं सधे हुए हाथों की कला है।'

चतुर्वेदी हँसे 'तो फिर इनका सदुपयोग किया जाए न!'

मैं बोला 'इनका थाल भी आ रहा है।'

शान्तिप्रिय ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा, कहा 'मेरा थाल!' मैंने

सा मना किया था।

मैं बोला 'आप सौन्दर्य के उपासक हैं। ऐसी सुन्दर कलापूर्ण वस्तु का अपमान नहीं कर सकते, यह मैं जानता हूं।'

शान्तिप्रिय जोर से हंसे और जब थाल सामने आया तो सहज भाव से खाने लगे। हंसी मजाक के साथ खाना चलता रहा। समाप्त होते होते मैंने कहा अभी उठ न जाइए कुछ मीठा भी है।'

वे बोले क्या मीठा मैंने बहुत खाया है। तुम अब और क्या खिलाओगे ?'

मैंने पूछा क्या-क्या मीठा खाया है ?'

वे बोले 'मैंने गांव में गन्ने का रस पिया है गुड़ खाया है।

हम सब जोर से हंसे तो उन्होंने कहा 'इसमें हंसने की क्या बात है! गन्ने का रस ही तो इस सारी मिठास का आधार है। जिसने यह रस पी लिया उसने सब-कुछ पा लिया।' फिर एकाएक बोले, 'खाना किसने बनाया है ?'

मैंने कहा, क्यों, क्या सीखने की इच्छा है ?

नहीं भया, बहुत स्वादिष्ट बना है। सुरुचि और कला का बड़ा सुन्दर परिपाक हुआ है। मुझे अपनी पत्नी के पास ले चलो। मैं उन्हें प्रणाम करूंगा।'

मैंने उत्तर दिया, मेरी मां अभी जीवित हैं। आपके लिए विशेष रूप से उन्होंने ही बनाया है।'

यह सुनकर तो वे इतने तरल गद्गद हुए कि सहसा उठ खड़े हुए और किधर हैं?' कहते हुए छज्जे पर से होकर रसोई की ओर चल दिए। मैंने तुरन्त आगे जाकर मां को पुकारा। द्विवेदी जी का परिचय दिया। उन्होंने तुरन्त 'मां' के चरण छुए। बोले, माता जी आप सचमुच अन्नपूर्णा मां हैं। आपने कितना सुन्दर और स्वादिष्ट भोजन बनाया है। पूरियां तो स्निग्ध थीं।

वह दृश्य इस क्षण भी मेरी आंखों में उभर उठा है। देहरी के उस पार खड़ी मुस्कराती हुई मेरी स्नेहमयी मां और इस ओर चरण छूने को झुके हुए शान्तिप्रिय द्विवेदी। कितना दर्द उस होगा उस क्षण स्नेह

अतर म। मैं स्वीकार करूगा तब मेरे नयन भी सजल हा आए थ और मुझ लगा था कि बाहर स ऊबड-खावड और विछृङ्खल इस व्यक्ति का अतर मौन्य और स्नह क लिए कितना व्याकुल रहता है! कितनी प्यास है इस चातक का स्नह की एक विरल बूद की! जस यह पुकार पुकारकर कह रहा है— मुझ जावन चाहिए! मुझ प्रेम चाहिए!

यही व्याकुलता उनम बहुधा ऐस काम भी करा लेती थी जिनम विवक का अभाव रहता था। प्यास की उत्कटता विवक को प्राय धूमिल कर दती है। सुन्दर लडकिया क प्रति उनकी आसक्ति को लकर उनके तथा कथित मित्रा ने उनका कितना उपहास उडाया है! उ ह सचमुच काई शिव ही समझ सकता था। पर वे क्या सहज उपलब्ध होत है?

उ ही दिनो दिल्ली के कुछ महत्त्वाकाक्षी युवका न एक मासिक पत्रिका निकाला थी। मैन उनस कहा इसक लिए एक लेख दीजिएगा?'

बोल पारिश्रमिक तो मिलगा?

उन दिना आज जसी स्थिति नही थी। प्राय पारिश्रमिक नही मिलता था। मिलता भी था तो बहुत ही कम। फिर भी मैंने उनस कहा 'आपके लिए कुछ न कुछ प्रब ध किया ही जाएगा।

उन्हाने तुरन्त पत्रिका क नाम पकज' को लकर एक छोटा सा सरस लख लिखकर दिया। पसा की उ हे तुरत आवश्यकता थी और पत्रिका क पास पस थ नही। जनन्द्र जी के लिए किसी लख की पचीस रुपय की एक राशि रखी हुई थी। उन्हा के सुझाव पर व रुपय उन्हें द दिए गए। व बोल मैं परसा इलाहाबाद जाना चाहता हू। इन पसा स एक सकिड क्लास की सीट रिजव करा दें।'

सीट रिजव हा गई। लकिन चौथे दिन जनन्द्र जी क घर जाकर क्या दखता हू कि शान्तिप्रिय सशरीर उपस्थित हैं! मैंने अचकचाकर पूछा आप गए नही?'

सहज भाव म व बोल मन नही हुआ।

मैंन कहा फिर रिजर्वेशन कसिल करा दिया था?

बोल हा गया होगा मैं उस चक्कर म नही पटा।

छायावाद और भावुकता का युग बीत गया है। प्रत्यक युग बीत जाता

है परन्तु अपने युग में कौन कितना देता है उसी से तो व्यक्ति का मूल्यांकन किया जाता है। इतिहास में विरले नाम ही अंकित हो पाते है। शान्तिप्रिय का नाम वहां अंकित है। माधुरी, हंस', 'वीणा, कमला, और आज'-जैसे कितने ही पत्रों का उन्होंने संपादन किया। वे कवि, उपन्यासकार, निबंध संस्मरण लेखक और आलोचक सभी कुछ है। उनकी पुस्तकें साहित्य की ऊंची से ऊंची कक्षाओं में पढाई जाती है। छाया वादी आलोचना के क्षेत्र में वे अप्रतिम थे। उन्होंने मुझसे कहा था, 'मैं कभी व्यर्थ शब्द नहीं लिखता। किसी को पत्र भी लिखता हूं तो उसका उपयोग भी अपनी पुस्तकों में कर लेता हूं। तुम्हारे कहानी-संग्रह आदि और अन्त को पढ़कर मैंने जो पंक्तियां तुम्हें लिख भेजी थीं वे पुस्तक के दूसरे संस्करण में आ गई हैं।

अपनी बहिन को लेकर उन्होंने जो संस्मरण लिखे हैं और उनके जो निबंध हैं, उनमें उनकी दृष्टि और चिंतन का अद्भुत परिचय मिलता है। गांधी का यथार्थ-जनित आदर्श कीटस जैसी सौन्दर्य की अतोष पिपासा और युग जीवन की तलवर्ती परख सब-कुछ उनमें था। वे मात्र मौलिक चिंतन और सूझ-बूझ के ही स्वामी न थे, उनकी प्रतिभा देशी विदेशी सभी प्रकार के प्रभावों से मुक्त थी। उन्होंने केवल चौथी श्रेणी तक ही शिक्षा पाई थी परन्तु अपनी सहज प्रतिभा और अदम्य इच्छा शक्ति के बल पर वे अपने युग में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र बनकर चमके। जिसने कभी प्रेम का सरस स्पर्श नहीं पाया, खान-पीन तक की सुविधा जिसे नहीं मिली जो उच्च शिक्षा भी नहीं पा सका, उसने साहित्य को इतना-कुछ दिया कि पाठशाला की पढाई पर से विश्वास उठ जाता है। दुनिया की पाठशाला में तिल तिल कर अपनी सूखी हड्डियों का रस जलाकर उस चिर एकाकी ने जो कुछ सहेजा था, उसका ही फल साहित्य को दिया। अपने पास रखी केवल अंतर्वेदना की तपन। इसीलिए एक ओर इतने कोमल दूसरी ओर इतने सजग! आलोचना में कितने तटस्थ परन्तु साथ ही कितने भावुक! सचमुच उस अतल सागर का कोई थाह नहीं पाया। व्यवसायी लोग लहरों से ही खिलवाड करते रहे। और जब सागर सूख गया है तो हम मरुस्थल की रेत को माथे पर लगाकर कहते हैं 'ओह

तुम कितने महान थे।''

उस महानता की थाह शायद लोलाक कुण्ड के उस बूढे पीपल के पास हो जिसकी छाव तल के मकान म एक छोट से कमरे म उन्होंने अपने उपेक्षित एकाकी जीवन के रक्त को तिल तिल जलाते हुए सरस सशक्त साहित्य की सष्टि की थी। हमार लिए तो आज वे एक धधकता हुआ प्रश्नचिह्न मात्र बनकर रह गए हैं।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

बात तब की है जब महापण्डित राहुल सांकृत्यायन स्मृति खोकर तिल तिल मृत्यु की ओर खिंच रहे थे। मैंने मराठी के सिद्धहस्त नाटककार मामा वरेरकर से कहा— मामा! राहुल जी को देखने नहीं चलेंगे?

मामा ने तुरन्त उत्तर दिया, 'नहीं जा सकूँगा।'

चकित सा मैं बोला 'क्यों?'

उसी दृढ़ता से मामा ने कहा—'क्योंकि मैं समर्थ की असमर्थता नहीं देख सकता।'

सत्य कड़वा था पर सत्य था। आज सोचता हूँ तो स्मृति-पटल पर अनेक स्मृतिहीन चेहरे उभर आते हैं। क्रांतिकारी बटुकेश्वर दत्त, प्रखर कवि आलोचक मुक्तिबोध, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, मुक्त अट्टहास करनेवाले रामवृक्ष बेनीपुरी कितने समर्थ थे ये सब! इन्हीं की असमर्थता देखकर कितना व्यथित हो उठा था मेरा मन!

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कई दिनों से अस्वस्थ चल रहे थे। वाराणसी में कुछ न हो सका तो उन्हें दिल्ली लाया गया। सूचना मिली वे प्रायः स्मृतिहीन हैं। मस्तिष्क में ट्यूमर है। किसी को उनके पास जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। मैं नहीं गया वहाँ। मामा के शब्द याद आ गए। जो अट्टहास का स्वामी था उसके चारों ओर घहराते अशुभ मौन की कल्पना भी सुगम नहीं थी।

नियति के सामने समर्थ की यह असमर्थता! और समर्थ भी ऐसा जो एक बार तो अचेतन कर दे। जिसके सान्निध्य में समर्थ हुआ मनुष्य हममें

हुआ मानवीय मूल्य समय ने ए, उसकी असमथता कोई कस सह ? लकिन यह द्वद्व तो हमारे मन का है न ? मन ही सुख दुख म फक करता है। नहीं तो क्या हम भी अतीत नहीं हो सकत इस द्वद्व स ?

कहा गया कि व पकाण्ड पण्डित थ बहुभाषाविद थ गहन गति थी उनकी प्रचीन वाङ्मय म और पाचीन सदर्भो को ऐस नय अथ दनवाल थ कि वे युग सत्य बन जात। वे पुरातन के सहारे वतमान को दखत। इसी को सुधि आलोचक आधुनिकता वोध कहत हैं। यू उनका सत्य मानवीय मूल्यों का सत्य था जो कभी काल क बन्धन म नहीं आता।

वह प्रखर आलोचक थे पर उनका लक्ष्य ध्वस नहीं था सही जमीन को पहचानना और पकडना था। मध्ययुगीन सन्त साहित्य की विशेषकर कबीर की चर्चा उनम सुनन पर जो मार्मिक अनुभूति होती थी उस ब्रह्मान द सरोवर म डूबने की ही सज्ञा दी जा सकती है। फक्कड कबीर सुन भी बहुत प्रिय है। मानता हू कि उनकी फक्कडता ही लोकतत्त्व की सही पहचान है। द्विवदी जी वाल्मीकि व्यास और कालिदास स होकर कबीर को पा सक यही उनकी सहज मानवीयता की पहचान है। अभिजात्य स लोकतत्त्व की ओर उनकी यात्रा ही उनके साहित्य की धुरी है।

वह भाषण दते तो लगता जसे ज्ञान की परतें ही नहीं खुल रही हैं मत्रमुग्ध कर दनेवाली सजीवनी भी अन्तर को सराबोर किय द रही है। ऐसा व्यक्ति कसा प्राध्यापक हो सकता है यह कल्पना करना कष्टकर नहीं है। अपने शिष्यों का अपना सहज विनोदप्रियता सहज मानवीयता के कारण ही तो उ होंन अपने गुरुत्व क भार स नहीं दबन दिया। सभी को व सखा मानत समझत रहे।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रश्न उनक लिए भाषा का प्रश्न नहीं था उन असख्य व्यक्तियों की आशा आकाक्षा और सुख दु ख का प्रश्न था जो उस बोलत समझत थे। राजनीति सीध सत्ता से जुड़ी रहती है और सत्ता सबस पहल मानवीयता को ही नष्ट करती है। द्विवेदी जी उस मानवीयता क पक्षधर थे। यही इस युग की त्रासदी है।

उनका अट्टहास ऐसा था जसा सूय का प्रकाश। सूय प्राणदाता है।

उनका अट्टहास भी प्राणों में उजाला भर देता। सस्ता साहित्य मण्डल से उनका निबंध-संग्रह 'अशोक के फूल' प्रकाशित हुआ। जब भी वे आते सस्ता साहित्य मण्डल का यह लघु कक्ष उनके अट्टहासों से विराट हो उठता। कथा-सूत्र एक ओझल कि उनकी सृजनशीलता पर मुग्ध होना पड़ता। बात— एक बार आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ गौहमगढ़ जाना हुआ। वहां देखा—बेलों से पेड़ लदे हैं। किसी ने कह दिया कि पेट के लिए यह अमृत फल है। बस विदा-बेला में एक बोरी भरकर बेल भी सेन महोदय के साथ चली। उनकी सार-संभाल का भार स्वाभाविक रूप से मुझे ही उठाना था। कुनकुर रह गया। कैसे उठाऊंगा इस भार को? क्या कोई युक्ति का मार्ग नहीं है?

सहसा एक विचार कौंध गया। तांगे में यात्रा कर रहे थे। बेलों की बोरी पैरों में थी। चुपके से एक बेल निकालकर सड़क पर लुढ़का दी। देखा वह तो तुरन्त आंखों से ओझल हो गई। फिर क्या था, स्थान पहुंचने तक मैंने यह क्रम भंग नहीं होने दिया।

सेन महोदय ने जब बोरी देखी तो उसमें दो चार बेल शेष थीं। हैरान होकर बोले, 'हजारीप्रसाद, बेल क्या हुए?

अनजान अनजान मैंने कहा क्या हुआ? बोरी में नहीं हैं?

सेन महाशय बोले चले थे तो बोरी भरी थी। अब तो दो चार हैं इसमें।

उसी तरह निर्दोष भाव से मैंने कहा, समझ गया। बेलों का स्वभाव लुढ़कना है। लगता है तांगे की गति के साथ वे भी लुढ़कती रहीं और मार्ग में भटक गईं।'

सेन साहब ने मेरी ओर देखा बोले सब समझता हूं। तुम्हारी शरारत है यह। तुम्हें उठानी पड़ती इसलिए तुमने '

लेकिन वह वाक्य पूरा हो ही नहीं पाया क्योंकि हमारा कक्ष तो पहले ही अट्टहासों से भर उठा था।

उस दिन पंजाब विश्वविद्यालय के किसी भोज के अवसर पर हम दोनों जालंधर में मिले। मैं उदर रोग से पीड़ित था इसलिए जहां भोज में नाना प्रकार के व्यंजन परोसे गए वहां मेरे सामने केवल दूध का एक

गिलास ही था। द्विवेदी जी ने मुख देखा दूध के गिलास को देखा नाना प्रकार के व्यंजनों को देखा। मैं समझ गया अब विस्फोट होने ही वाला है। बोल उठा द्विवेदी जी ! आजकल उदर रोग कुछ उग्र हो उठा है।

वाक्य पूरा होते न होते द्विवेदी जी शरारत से मुस्कराते हुए बोले आप कुछ भी कहें जो सच है वह तो बाबा तुलसीदास ही कह गए हैं— सकल पदारथ हैं जग माहीं भाग्यहीन नर पावत नाहीं।

फिर तो वह कहकहा उठा कि मेजें हिल उठीं।

जैसे ही कुछ शान्ति हुई मैंने कहा द्विवेदी जी ! भाग्यहीन के स्थान पर करमहीन भी आता है कहीं कहीं।

द्विवेदी जी बोले मुझे लगता है करमहीन न होकर यहाँ कर विहीन रहा होगा। वही अधिक सार्थक लगता है।

फिर तो द्विवेदी जी अपने ढंग से भाग्यहीन करमहीन और कर विहीन की न समाप्त होनेवाली व्याख्या में व्यस्त हो उठे और हम सब मन्त्र मुग्ध से सुनते रहे। बीच बीच में हँसी की फुहार तो छूटती ही रहती थी।

साहित्यकारों में प० माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीमती महादेवी वर्मा की अपनी विशिष्ट शैली रही है। माधुर्य और ओज दोनों से ओतप्रोत भाषा का सौष्ठव वहाँ देखने को मिला पर जब द्विवेदी जी बोलते तो न होता ओज और न होता माधुर्य होती ज्ञान की गरिमा को ढोती वह भाषा जिसका प्रयोग वही कर सकते हैं जिन्हें मन्त्र कुछ सहज हो गया हो। ऐसी सहजता हो तो श्रोताओं को सहज और मुग्ध करती है। मेरे जिज्ञासा करने पर सहजता का रहस्य बताते हुए द्विवेदी जी ने कहा था शुरू शुरू में मुझे जब भी भाषण देना होता तो बड़ी तैयारी करता। पाण्डित्य का प्रदर्शन भी होता सम्भव लेकिन उसका जरा भी प्रभाव न होता श्रोताओं पर। सब कुछ अनबूझा रह जाता। एक दिन ऐसा हुआ कि एक सभा में अचानक बोलना पड़ा। जरा भी समय नहीं कि कुछ सोच सकूँ। काँप आया कि अब क्या होगा लेकिन जैसे ही श्रोताओं पर दृष्टि पड़ी तो मार्ग मिल गया। मैंने उन्हीं की भाषा में उन्हीं के बारे में बोलना शुरू कर दिया। अचरज कि दूर दो मिनट बाद सभा मण्डप तालियों की गड़ गड़ाहट से गूँज रहा है। उस दिन मैंने सीखा कि पाण्डित्य का बोझ उतार

कर श्रोताओ की भाषा म श्रोताओ के मन की बात करना ही वह मत्र है जो सिद्धि-दाता है।

सचमुच पाण्डित्य की गरिमा मानवीय समवेदना और लोकतत्त्व क माध्यम स होती है, उस बाद दकर नही। उनक सजक कलाकार होन का रहस्य भी यही था कि व पाण्डित्य क बोझ म पीडित नही हुए। पराग की रक्षा करन क लिए व फूल की पाखुरिया की तरह था।

द्विवदा जी विशेषणहीन मनुष्य थ। वही साहित्य म उनका लक्ष्य था वही क द्र था उनकी दष्टि म विज्ञान और अध्यात्म का। पुराना बात है तब की जब भाई अमतराय हस का सम्पादन करत थे। आक्षेप हुआ कि वह नितान्त वामपथी पत्रिका हो गइ है। एक लख म इस आक्षप का निराकरण करत हुए उ होन मानव मूल्यो की व्याख्या की और उदाहरण के रूप म हस म प्रकाशित एक कहानी का हवाला दिया। वह मरी कहानी थी तागेवाला। वर्षों बाद मैंन वह लेख दखा था और चकित रह गया था। कितन जागरूक पाठक थ वह! वह मात्र उन्ही पुस्तका पर सम्मति नही दत थ जो आग्रहपूवक उ ह भेजी जाती था, स्वय पढकर भी लिखत थ। आवारा मसीहा' पूरा पढन म पूव ही गद्गद होकर उन्होंन जो पत्र मुझ लिखा था उसकी दस पक्तियों म ही उ होन इतना कह दिया था जो दस पष्ठो के लेख म न कहा जा सके। आज धज्जिया उडान का युग है। छिद्र ही उछालत हैं हम, पर द्विवेदा जी कोई दोष देखते तो बहुत धीमे स, प्यार स उस ओर सकेत करत।

कहा है न कि मनुष्य मे उनकी आस्था थी। 'ज्ञानोदय' क सम्पादक क प्रश्न के उत्तर म (नवम्बर 1967) उन्होने कहा था, यह दुनिया नष्ट होने योग्य नही है। यह सुदर है बहुत सुदर। इसन मनुष्य को जन्म दिया है। मनुष्य अपार सम्भावनाओ का महान भडार है।'

मनुष्य म यह आस्था प्रम-तत्त्व को आत्मसात् किय बिना नहीं हो सकती। उन्हीं सम्पादक के एक और प्रश्न क उत्तर म कि 'प्रलय क समय आप किस बचाना चाहग' उन्होंने कहा था, ' परिवार और मित्र-मण्डली को क्योकि ससार के सवश्रेष्ठ रत्न प्रेम का साक्षात्कार मुझे यही हुआ है। ईश्वर को पारिवारिक रूप म या मित्र रूप म दखना

सबसे बड़ा दर्शन है। परिवार और मित्र के अभाव में यह दृष्टि मिल नहीं सकती।

तो द्विवेदी जी का जीवन दर्शन यही था। इस दर्शन के (आलोक में) ही तो वे पाण्डित्य और सर्जक साहित्यकार में समन्वय साध सके। प्रेम और मनुष्य के प्रति इसी निश्छल आस्था ने पाण्डित्य को बोझिल नहीं बनने दिया। उनके समूचे साहित्य में यही दर्शन मुखर हुआ है।

कह आया हूं कि वह प्राचीन सदर्भों को नये रूप में व्याख्यायित करते थे। पुनर्नवा पढ़कर मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था। उस उपन्यास की कथा का मूलाधार मृच्छकटिकम् का कथा है पर पुनर्नवा में वह गौण हो गई है। मैंने जानना चाहा कि क्या आपकी कथा का कोई ऐतिहासिक आधार है? द्विवेदी जी ने जो उत्तर दिया वह उनके कथा संसार और उनकी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है —

मैंने तो चन्द्रायन लोरिकायन आदि लोक-कथाओं से प्रेरणा ली है और उसमें इतिहास का छौंक दे दिया है। मृच्छकटिकम् एक प्रकरण है। वह किसी प्रख्यात वंश के राजर्षि का चरित्र नहीं है बल्कि काल्पनिक निजधरी कथाओं (निजेण्डरी टेल्स) पर आश्रित प्रकरण है। मैंने इसी रूप में इसका उपयोग भी किया है। इन निजधरी कथाओं का प्रकरण और कथालेखक यथेष्ट प्रयोग करते रहते हैं। यह भारतीय साहित्य की चिराचरित प्रथा है।

किसी मनीषी ने कहा था कि न जन्म होता है न मृत्यु आत्मा उच्च तर लोकों की तलाश में आगे बढ़ जाती है और हर पड़ाव पर अपनी स्मृति छोड़ जाती है। यही स्मृति मनुष्य की पहचान कराती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पहचान इसी मनुष्य की पहचान है। नहीं जानता कि अस्तव्यस्त मौन हुआ या आलोक पर्व समाप्त हुआ या सूर्य अस्त हुआ पर इतना अवश्य जानता हूं एक मनुष्य था जो समय के पथ पर अपने चरणचिह्न अंकित कर आगे बढ़ गया।

वे ही चरणचिह्न स्मृति बनकर उनकी पहचान को जीवित रखेंगे और अनास्था के इस युग में आस्था को नामशेष नहीं होने देंगे।

मनुष्य की यही पहचान संस्कृति की पहचान है।

कविरत्न प० हरिशंकर शर्मा

शर्मा जी की बात सोचता हूं तो सहसा गोस्वामी तुलसीदास जी की यह चौपाई याद हो आती है— 'दिवस जात नहिं लागहि बारा।' इस अर्द्धाली के पीछे कितनी मार्मिक अनुभूति है! कितनी जल्दी व्यतीत बने गए वे चालीस वर्ष जब पहले पहल मेरा शर्मा जी से पत्र व्यवहार हुआ था! मैं तब लेखक बनने के प्रयत्न में था और उसी प्रयत्न में आर्य मित्र तक पहुंच गया था। स्वेत पोस्ट कार्ड पर उनकी सुन्दर लिखावट तथा नये लेखक के प्रति आत्मीयता और संवेदनशीलता ने मुझे उनके प्रति श्रद्धा से भर दिया था। आज मानव जीवन के मूल्य बदल गए हैं तो भी अपने अन्तर में उनके प्रति उस श्रद्धा में रचमात्र भी अन्तर नहीं पाता। कभी कभी स्वयं मुझे इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है।

वे मेरे जैसे नौसिखिए के लेखों को बड़े प्रेम से 'आर्य मित्र' में प्रकाशित ही नहीं करते थे, मार्ग-दर्शन भी करते थे। बड़ी उत्सुकता से मैं उनके पत्र की राह देखा करता था। आर्य मित्र' एक सम्प्रदाय विशेष का पत्र था, लेकिन शर्मा जी के सम्पादकत्व में वह सबके लिए सहज सुपाठ्य हो गया था। उनका क्षेत्र जितना व्यापक था उतने ही वे उदार भी थे। इस उदारता की नींव पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने डाली थी जो उससे पूर्व सर्वानन्द के नाम से आर्य मित्र का सम्पादन करते थे।

मुझे 1934 के प्रारम्भ के उन दिनों की बहुत अच्छी तरह याद है जब उन्होंने 'आर्य मित्र' के सम्पादक पद से त्याग-पत्र दे दिया था। उसका कारण था आर्य मित्र के संचालक का अभद्र व्यवहार। शर्मा जी

जो वद्ध हैं वे मागदशन कर सक्त हैं। यदि ऐसा नही होता तो सघप अनि वाय "और सघप कटता का ही ज म "ता है ।

उस युग म शर्मा जी की हास्य कविताओ की बडी धाक रही । उनक "यग्य न लाख। "यक्तियो का तिलमिला दिया। लीडर लीला पिंजरा पोल और चिडियाघर जसी युगानुरूप सु"र कृतिया उ"होन "ी। अनु प्राम का युग आज न"ी है पर उनक चुटील आक्रमण आज भी उतन ही प्रभावशाली है जितन उस युग म थ । लकिन अश्लील या अभद्र होना उ"ान सीखा नहा था । हास्य और "यग्य की श्रेष्ठता की कसौटी यही है कि उसम क"ता न "ी। शमा जी का रचनाओ म कटुता ढ" भी नहा मिल सकती। यद्यपि उनकी रचनाओ की लोकप्रियता का बहुत बडा आधार श"द चमत्कार ही रहा है "किन फिर भी वही सब कुछ नही था। लीडर लीला का "यग्य इस चम"कार स मुक्त है। इसलिए उसका प्रभाव और भी सघन हो जाता है।

उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी । जितन अधिकार स हि"दी म लिख सक्त थ उतना ही अधिकार उ"ह उदू पर था। व हि दी और उदू क बीच की कडी थ । सस्कृत और फारसी दोनो स वे बहुत अच्छी तरह परि चित थ। उदू काव्य का उनका "ान बहुत विस्तत और गहन था। मक्श अक्बराबा"ी न लिखा है आपने जिस तरह उदू लिट"चर को हि"दी लिट"चर क करीब किया है वह हमेशा तवारीख म याद रहगा। मुझ यह महसूस करत बडी खुशी होती है कि आप उदू म भी "ार कह सक्त हैं। यह बात उदू वालो क लिए बडे फक्र की है। इससे हम यह सबक हासि"ा कर सक्त है कि वडा अदीव वही है जो एक जबान म मा"ि होन क अलावा और भी कई जबानो और उनके अदब स वाकिफ हो । मेरे दिल म पण्डित जी की इज्जत भी है और मुह बत भी । क्योकि उनके दिल म सब के लिए मोह बत है और यही उनके बडे हान की दलील है ।

शर्मा जी अपन देश स भी उतना ही प्यार करते थे जितना अपनी भाषा स। उ"होने कभी कोई पद नहा चाहा लेकिन गाधी युग क सभी आ"दोलनो म वह सक्रिय रहे। उनका घर स्वाधीनता सग्राम म सनिको

का आश्रय स्थल बना रहा। 1942 की जन क्रान्ति मे उन्ह जेल के सीखचो के पीछे ब न्द कर दिया गया था लेकिन देश क आजाद हो जाने के बाद उन्होंने एक क्षण के लिए भी उसका मूल्य वसूल करने की कल्पना नही की। एक साहित्यकार के नाते ही उन्होंने जीना सीखा।

आगरा न साहित्य की अनक विभूतियों को जन्म दिया है। सरल प्राण प० हरिशकर शर्मा उन्ही विभूतियो म अग्रगण्य थ। व कवि थे परन्तु कवि सम्मलना क सम्ब ध म उनकी जो धारणा थी उसम उनक स्वतन्त्र और स्वस्थ दृष्टिकोण का पता चलता है। 14 जनवरी 1947 के पत्र म उन्होने मुझ लिखा था कवि सम्मलनो स हिन्दी का कुछ प्रोपे गण्डा तो होता ह परन्तु अच्छी कविता प्राय उनम नही पढी जाना। गान वाल कवियो का वाह वाह मिलने का वह उपयुक्त स्थान है। कवियो म यश लिप्सा के साथ साथ धन लिप्सा भी बुरी तरह बढ रही है। जो लोग पूजीवाद की जड पर कुठाराघात करने को सदा तयार रहत है व भी पूजी क लिए अपना सवस्व निछावर कर डालत हैं। मैंने दो चार कवि सम्मलनो म कवि भाइयो की बडी लिप्सा देखी है। सब कवियो के सम्ब ध म यह नही कहा जा सकता। मेरी राय म थोडे लोगो की गोष्ठिया बडा उपयोगी हैं। उनम कविता सुन्दर स्वरूप सामने आती है।

शर्मा जी घुंधले सनह क उस पार देखन की शक्ति रखत थ। व मनुष्य को जितना स्वस्थ देखना चाहते थ उतना ही स्वस्थ वातावरण उन्ह साहित्य क क्षेत्र म प्रिय था। वे सबस पहने और सबस अन्त म मनुष्य थे। एम मनुष्य जो आत्मसम्मान बलिदान और आत्मीयता क सही अथ समझते हैं मात्र शब्दो म ही नहीं, व्यवहार म भी। वे क्षुद्र स्वार्थों स ऊपर उठना जानत हैं और यह भी जानत हैं कि मनुष्य यदि स्वय ही झुकना न चाहे तो कोई उस झुका नही सकता। आज वे नही हैं परन्तु उनकी मधुर स्मति निश्चय ही मेरे जस व्यक्तित्व की बहुत बडी सम्पत्ति और शक्ति है। उनका याद करके मन निमल होता है और यह निमलता ही मनुष्य को जीना सिखाती है।

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

जो अकिंचनता की सीमा तक शालीन उदात्त है जिसका प्यार-स्नेह करुणा म सराबोर है जिसकी कुण्ठा अपनी निजी है पवित्र है जो आडम्बरहीन मकाची प्रदर्शन स दूर और दम्भहीन है उसी का नाम है द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण । हृदय ही मनुष्य है इसके वे पुंजीभूत आकार हैं । उनके व्यक्तित्व उनकी कृतियां उनके पात्र सबका भावबोध एक दूसरे से ओत-प्रोत है। छद्म उन्हें छू भी नहीं गया। आत्मप्रकाश स हजार कोस दूर होन क कारण आज के प्रचार के युग म अक्सर ही उनका नाम छूट छूट जाता है।

पर यह छूटना क्या अभिशाप है? क्या इसी न उनकी मौलिकता को अक्षुण्ण नहीं रखा है? अपने को जीवित रखने के लिए तपना होता है। वही तप निर्गुण न तपा है और मूल्य चुकाया है। नहीं तो आज के घुड़ मिलावट के युग म उन्हें हम लोगों की तरह सींग कटा कर बछड़ों म शामिल होन के लालच म फस कर दौड़ने और कूदने म व्यय शक्ति व्यय करनी पड़ती और फिर भी तथाकथित युग बोध — मगतृष्णा ही बना रहता।

और आलोचक ही क्या लेखक की चरम हाईकोर्ट है? सामान्य पाठक का स्नेह क्या उस कम बल देता है? सच तो यह है कि अंतिम निर्णायक वही है और निर्गुण को निश्चय ही लक्ष लक्ष पाठकों का स्नेह मिला है। उन्होंन माया के माध्यम से कथा साहित्य म प्रवेश किया। यह भी एक सीमा तक उपेक्षा का कारण बना। पर जनता तक पहुंचने का साधन भी

तो वही वनी।

निर्गुण ने पुरुष होकर घडो आसू बहाए हैं। या 'उनका भाव वोध श्रीनिवास दास युग का है।' यह कहने वाले आलोचक हैं ता यह घोषणा करने वाले भी हैं 'निर्गुण की रचनाए पढते समय हम शरत और प्रेमचन्द की याद एक साथ आती है।' "निर्गुण जैस कलाकार के होते हुए अन्य भाषाओ के कहानीकारो की ओर हम दौडने की क्या जरूरत है? (दिनकर) 'उनमे शिल्प बहुलता के बीच सहजता की तलाश है। (मधुरेश) प्रेमचन्द की कहानियो की तटस्थता, सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्नता, सुबोधता के सूत्र उनकी कहानियो म सहज ही प्राप्त हैं। रचना शिल्प की अकृत्रिमता और स्वाभाविकता मन का मोह लेती है। (डा० लक्ष्मी नारायणलाल) वे उस पुरानी परिपाटी के कथाकार है जिनमे चमत्कार कम, पर वास्तविक सत्य अधिक होता है। उनका जीवन का अनुभव बडा है, इसीलिए उनकी कहानियो म वचित्य और विभिन्नता है, रस है बल है। (श्रीपत राय)।'

साबुन, तिवारी दायरे', 'घोडी और एक्सचेंज जैसी कहानियो के स्रष्टा को यदि साहित्य का इतिहास भूल जाना चाहता है तो इसमे उसका अहित हो सकता है निर्गुण का नही। उन्होने 250 से अधिक कहानियां लिखी। वे सभी श्रेष्ठ हैं एसा दावा तो वे स्वय भी नही करेंगे, पर नाना स्रोतो से आकर ये शीर्षक तो श्रेष्ठता का दावा कर ही सकते हैं (1) दृष्टिदोष, (2) बच्चे (3) पडोसी (4) आसरा, (5) लाल डोरा (6) ओले, (7) आरपार (8) जूठन, (9) टूटा फूटा (10) भूख और प्यास (11) दायरे, (12) छोटा डाक्टर (13) एक्सचेंज (14) रमदू, (15) घोडी (16) तिवारी (17) साबुन और (18) शिल्पहीन कहानी।

अन्तिम 6 कहानियो को निर्गुण ने स्वय चुनकर मेरी लोकप्रिय कहानियां म सकलित किया है।

निर्गुण जी विशुद्ध भारतीय परिवेश के चितेरे हैं। कोई क्रान्तिकारी ज्ञान उनके पास भले ही न हो, पर इस जटिलता के युग म सरलता ही उन्हें प्रिय है। उन्होने स्वय कहा है, कुण्ठा और सन्त्रास अपने व्यक्तिगत जीवन म जितना मैंने सहा है शायद ही किसी लेखक को भोगना पड़ा"

हो। उनका न केवल आज तक भाग्य की इतनी ठोकरें मैंने खाई है दूसरों के इतने आघात सहे हैं इतनी उपेक्षा और अपमानना पाई है कहना नहीं बनता। अपना मांगा हुआ नहीं मगर अगर लिखता तो उन आँखों देखी बातों को कहीं अधिक जानदार चीजें पेश कर सकता था।

इनका यह दावा नकारने की धृष्टता मैं नहीं करूंगा। क्योंकि मैं जानता हूँ कि उन्होंने इस पीड़ा को अपनी निजी थाती के रूप में अंतर में सजाकर रखने का प्रण किया हुआ है। नीलकण्ठ तो एक शिव ही थे पर उस आदर्श की ओर उन्मुख होने वालों में निर्मल अग्रणी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें लिखा : आप पाठकों के साथ इतना अन्याय क्या करते हैं कि आदमी आपकी कहानी पढ़कर तिलमिला कर रह जाए। ऐसा मत कीजिए। डा० आर्येन्द्र शर्मा ने सुझाया— आदमी को जिन्दा रहने की छाती ठोककर आगे बढ़ने की हिम्मत बंधाओ तो कुछ बात भी है।

सहज भाव से यह सुझाव स्वीकार करते हुए निर्मल लिखते हैं : मैंने अपना रवैया ही बदल लिया है। दुखान्त चीजें लिखना छोड़ दिया है। अपनी सारी व्यथा सम्पूर्ण कष्ट कलेजे के भीतर रखकर लिखता रहा हूँ। कभी पाठकों को धोखा नहीं दिया ।

काश यह संकल्पित रहने की आवश्यकता न पड़ती पर उन्होंने अपने आलोचकों से कड़ी चोट खाई है। चोट खाना सरल प्राण व्यक्ति की नियति है।

उस चोट का आभास उनकी कहानियों में भी मिलता है। दायरे में उन्होंने आधुनिक नारी की प्रतीक मिसेज खन्ना और अपनी कल्पना की महिमामयी नारी राधा का चित्रण कुछ ऐसे किया है जैसे आलोचकों को जवाब दे रहे हों। पर वह इतना सहज स्वाभाविक है कि कुछ भी ओढ़ा हुआ या सायास नहीं लगता। यह कहानी सहज ही उनकी प्रतिनिधि कहानियों में मानी जा सकती है कला और शिल्प दोनों दृष्टियों से। अकिंचन की तरह रवीन्द्रनाथ के शब्दों में वे कहते हैं 'न मिले सिंहासन मुझे तनिक भी दुख नहीं। सबके चरणों के नीचे मेरी जगह हो। प्रभु मैं इतने में ही संतुष्ट हूँ।"

भवभूति ने उस युग में इसी तरह आलोचकों से चोट खाकर घोषणा की थी, 'जो लोग मेरी अवज्ञा करते हैं वे बहुत बड़े हैं बहुत कुछ जानते हैं, परन्तु उनके लिए मेरी यह रचना नहीं है। कभी-न-कभी कोई माई का लाल जरूर पैदा होगा जो मेरी छाती-से छाती लगाकर मेरी आवाज सुन सकेगा। क्योंकि काल की कोई सीमा नहीं है और यह धरती बहुत विशाल है।'

पता नहीं, भवभूति के आलोचक कौन थे और कहाँ थे ? पर काल की सीमाएँ लाँघकर भवभूति आज भी जीवित हैं। 'निर्गुण' भी जीवित रहेंगे और यह भी एकान्त सत्य है कि सत्य के चरणों के नीचे की जगह ही परम ऊँची जगह होती है।

निर्गुण अपनी कहानियों के पात्रों में, जिन्हें उन्होंने अपने हृदय के रक्त में साना है, अलग क्यों हों ? जो परिस्थितियों से निर्मित शैतान के भीतर से तिवारी रूपी शिव को खोज लेता है, जो एक्सरेज की महिमा मयी नारी आभा की तरह स्फटिक मणि की तरह पारदर्शी है, जो 'साबुन' की माँ जैसा उज्ज्वल श्यामा की तरह सरलप्राण है, जो शिल्पहीन कहानी के बलिष्ठ हरेकृष्ण की तरह अपने गौरव से अपरिचित है और जो पारो की 'राजरानी' की तरह अपनी आत्मा की पहचान कर विद्रोह करना जानता है, वह अपने को हीन क्या समझे ? क्या कहूँ ? मुझे तो अपने पर आस्था नहीं है। लगता है कि जैसे सम्पूर्ण जीवन ही मेरा व्यर्थता से भरा है तब भला मेरी कहानियों का क्या मूल्य होगा ?" 'साबुन' जैसी कहानी को लेकर क्यों व्यग्र करें, यह महज एक कहानी है, एक रद्दी-सड़ी कहानी जो इस संग्रह के सौन्दर्य को नष्ट कर रही है। जैसे किसी ने मखमल के एक किनारे टाट का टुकड़ा लगा दिया हो। यह हरगिज श्रेष्ठ कहानी नहीं है।"

लगता यह है कि निर्गुण के विग्रह की आग आँसुओं के भीतर से धधकती है, इसलिए उसका दाह मुलायम पड़ जाता है और उनकी उदात्त भावना अनिवार्य तरल हो रहती है।

लेकिन निर्गुण के आँसू प्रयत्न के आँसू नहीं हैं। उन्होंने सहज भाव से उन्हें माँगा है। वे उनके जीवन में ओत-प्रोत हैं। उनके प्रारम्भिक

जीवन की एक मार्मिक घटना म इनका स्रोत ढूढा जा सकता है—

मेरी मा को कहानिया पढन का बेहद शौक था। अपने एक निकट के सम्बन्धी के यहा से वे चाद के दो अक पढने को लती आइ। सम्बन्धी पसे वाले थे और हम लोग बाकायदा गरीब थ। मेरी मा रसोइ म थी कि वकील साहब का नौकर आगन म खडा होकर ज़ोर स पुकारकर बोला 'कहा हो बुआ जी ? वह जी न व दोनो किताबें मगाई हैं। मा ने बिना एक शब्द बोल चाद के वे दोनो अक उस पकडा दिए।

रात पड गई। सब कोई छत पर सो रह थे। पता नहा कस आख खुल गइ। सुना थोडी दूर पर लेटी मेरी मा धीरे धीरे सिसक रही है। मैं चौंक कर उनकी खाट पर जा बठा और बार बार पूछने लगा क्या रो रही हो ? क्या हुआ ?

नीम अधर म अपनी आखें पोछकर मा न कहा कोई बात नहा है तू जा सो जा। पर मैं नही उठा। तब मा न हौले हौले मानो अगोचर स कहा दो घटे बाद ही नौकर दौडा दिया। इतना भी सब्र न हुआ। मरे पास पस होत तो मैं भी खरीद पाती चाद।

मा की व आसुओ म डूबी बातें सुनता निरुपाय मैं निश्चल बठा रहा। आज कितन साल हो चुके इस घटना का पर मुझे बहुत पीडा हुई थी बहुत दद लगा था अपनी मा पर यह अभी तक याद है।

और इसक तीन साल बाद सन 1931 म मेरी पहली कहानी अभागी प्रकाशित हुइ तब मैं महज 15 साल का था। पर तु तब तक मेरी मा इस दुनिया स चली गई थी। उस कहानी का यदि वह एक बार पढ लती तो मेरा सम्पूण लखन सार्थक हो जाता। पर वह नहीं हुआ और वह कसक आज तक न गइ।

वही कसक आसुओ म रूपा तरित होकर ओत प्रोत किए हुए है निर्गुण के साहित्य को। पर भावबोध तो बदलता रहता है। उस युग म आसू शक्ति थ आज दुबलता है। आसुओ स जो भिगो दे वह तब श्रष्ठ रचना मानी जाती थी और अब वही निकृष्ट कहलाती है।

और यह भी दोष है उन पर कि व आसुओ को अनुभूति न बना सके। अनुभव जब अभि यक्ति के लिए तडप उठता है तभी वह अनुभूति

की सना पाता है। निगुण म वह तदप कम नही है। सब-कुछ भोग कर लिखा है उन्होन। उन्होंने गाव की जीव त स्वाभाविक कहानिया लिखी हैं ता नगर क नारी-पुरुषा के सम्ब धो का लेकर भी लिखा है। उन्होंने निम्न और मध्य दानो वर्गों की वेदना और आकाक्षा की सही तसवीर पश की है। जीवन के स्वस्थ और उदात्त पक्ष क कुशल चितरे हैं वे उध-डना कुत्सना क नही। प्यार और कला आस्था और सवेदना सहानुभूति और सस्कृति उ ही के श दा म उनकी मा यता के आधार स्तम्भ हैं। व मूलत आदशवादी हैं इसीलिए नारी के यौवन और रूप व लावण्य से अधिक नारी की ममता करुणा सहनशीलता और दृढता उन्हें प्रिय है। मानत है कि जो समाज म तुच्छ हैं नगण्य है हस्ती कुछ नहो जसी है अभावा के बीच जिन्दा हैं व अकिंचन भी अपन भीतर ज्योति लिए हैं।

यही ता शतान क भीतर शिव की खाज है। अपन रि त क दिपन ताजजी म उन्ह तिवारी मिल गए और अपनी पत्नी म श्यामा। उसक चटपटे प्रेम कें आग सब तक हार जात है। स्वाधीन भारत का प्यार थोडे ही है वह जो काम विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। कितनी तजी स बदल रहा है युग। साबुन व छोटा डाक्टर जसी कहानिया क अस्पष्ट प्रेम क दिन नहा लौट नही सकेंगे अब। ढूढ पायेंगे क्या कभी हम शिल्पहीन कहानी के उदात्त चरित्र हरेकृष्ण को, सब की आशीर्वाद मेरा सारी दुनिया का प्रणाम। आग जाने वाला मुसाफिर हू सबका दुआए मेरी। एक्सचेंज जसी सूक्ष्म दृष्टि और गहरी पहचान व उदात्तता अगर श्री निवास दास क युग की है तो वह युग भी वरण्य है।

फिर कभी कभी ता एसा तडपात हैं कि विद्रोह भभक उठता है। रम बूद क गरीब रमचना का हाथ जलान म अमीर हलवाई गगासहाय की निस्सग क्रूरता भी अगर विद्रोह की प्रेरणा नही द सकती ता सोचना होगा कि हमारी नपुसकता कितनी ठोस है। विद्रोह तो शिल्पहीन कहानी पढ कर भी जागता है पर घाडों की राजरानी का विद्रोह अधिक युगानु-कूल और यथायपरक है। शिल्पहीन कहानी' मात्र निममता का चित्रण करती है। घाडी निममता क प्रति विद्रोह का माग स्पष्ट करती है। शिल्पहीन कहानी की नई कहानी की एक सुप्रसिद्ध लेखिका की एक

कहानी से तुलना कर जो वितण्डावाद उठा था वह दो पीढ़ियों दो युगों के दृष्टिकोण का अन्तर था। उस सम्बन्ध में हम श्री अरविन्द के शब्दों में इतना ही कह सकते हैं 'मुश्किल यह है कि हम दूसरों को जांचते समय उनके मानकों को, उनके मूल्यों की परवाह न करके उन पर अपने मूल्य और मानक लादते हैं। परिणामस्वरूप उनका बन्द ही गलत चित्र बना लेते हैं।'

बदायूं जिले के कुमार गांव में 1915 में जन्मे द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' ने घोर गरीबी में जीवन यापन करते हुए प्रथम श्रेणी में अंग्रेजी और संस्कृत में एम० ए० व साहित्याचार्य की परीक्षाएं पास कीं। लिखा हिन्दी में और पढ़ाए संस्कृत के लक्षण ग्रंथ। कई वर्ष माया के सम्पादकीय काम विभाग में भी रहे। 35 वर्ष तक अध्यापन काम किया। दो वर्ष पूर्व राजकीय संस्कृत विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष के रूप में अवकाश प्राप्त किया है। लगभग ढाई सौ कहानियां लिखने के बाद 1973 में प्रकाशित अपने लघु उपन्यास ये गलियां ये रास्ते में उन्होंने एक नये दिशाबोध का संकेत दिया है। स्वाधीनता के बाद भारत राष्ट्र जिस नानाविध भयानक भ्रष्टाचार के चक्रव्यूह में फंस गया है उसी का यथार्थ और नग्न चित्र अंकित किया है निर्गुण ने। साहित्य और शिक्षा जैसा उदात्त पवित्र क्षेत्र ही विशेष रूप से उनका लक्ष्य है। पढ़ते हैं तो जैसे दस्तमुन चित्र मन को कचोटते चले जाते हैं। इसमें न पहले जैसी भावना की गहरी मुलायमियत है न है वैसा अतिशय तरल कारुण्य। है बस कर्म का काठिन्य। कहानी कहीं जाकर समाप्त नहीं होती पर कहने को कुछ शेष रहता भी नहीं। यही इस लघु उपन्यास की शक्ति है। सब कुछ स्पष्ट सपाट। मनो विज्ञान के अधकूप नहीं टूटे हैं लेखक ने। बड़े साहस के साथ सहज सरल भाषा में ढोंगी प्राध्यापकों और साहित्यकारों के मुखों पर से मुखौटे उतार फेंके हैं और कहा है देखो यह हो तुम।

संस्कृत के पण्डित होने के कारण भाषा उनकी कभी भी पाण्डित्य के बोझ से बोझिल नहीं होती। सच तो यह है कि नहीं लगता कि ऐसी सहज मधुर भाषा का लेखक संस्कृत का विद्वान भी है। वही भाषा उनके पत्रों की भी है।

वही अकिचनता वही स्नेह, वही सघप की कहानी निगुण हर कही निगुण ", मैं निगुणिया गुण न जानू वाला निगुण ।

ताल्स्ताय न 8 वप के एक बालक के साहित्यकार बनन की इच्छा प्रकट करन पर उस लिखा था आपकी लेखक बनने की आकाक्षा का अथ हुआ कि आप सासारिक प्रख्याति सम्मान के प्रत्यानी हैं । यह केवल आकाम्ना का अहकार है । मनुष्य की एक ही इच्छा हानी चाहिए कि वह दयाद्र हो किसी को आघात न पहुचाए, किसी स घणा न करे वह किसी का दापदर्शी न हा । वरन् प्रत्यक व्यक्ति के प्रति ममताग्रही हा ।

निगण जी यही तो हैं । इसीलिए साहित्यकार भी हैं क्योंकि साहित्य का रसम सुदर सटीक व्याख्या और कुछ नही हा सकती ।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

अनवरत संघर्ष और अध्यवसाय—यही हमारे सुपरिचित कथाकार श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी का परिचय है। यूं तो सन 1917 में ही उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश पा लिया था परन्तु कहानी-लेखक के रूप में वे सन 1924 में, जब उनकी पहली कहानी माधुरी में प्रकाशित हुई थी प्रतिष्ठित हुए। तब से न जाने कितने युग पलट चुके हैं परन्तु वाजपेयी जी मौन में स्थिर गति से निरन्तर लिखते चले जा रहे हैं। प्रेमचन्द युग से लेकर अकहानी के इस युग तक उनकी कला ने कोई रूप न पलटा हो यह बात नहीं, परन्तु वे इतने सरल प्राण व्यक्ति हैं कि अपने को कहीं उभार नहीं पाते। डगर डगर चलना ही जैसे उनकी नियति हो।

प्रेमचन्द ने पहली बार मनुष्य को कहानी में प्रतिष्ठित किया। परन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव चरित्र के साधारण पहलू से वे आगे नहीं बढ़ सके। वाजपेयी जी ने साधारण से आगे उठकर असाधारण परिस्थितियों में मानव चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न शुरू किया। यद्यपि जैनेन्द्र और अज्ञेय की तरह उनकी रचनाओं में शिल्पगत और कलात्मक निखार नहीं आ पाया, तथापि बोलचाल की सरल प्राञ्जल भाषा में उन्होंने यथार्थ के माध्यम से जीवन के व्यंग्य को बड़ी निर्ममता के साथ चित्रित किया। निम्न मध्य वर्ग के जीवन में गर्भित निराशाओं और असफलताओं का उद्घाटन कर उन्होंने निरन्तर अपने कथा साहित्य को विस्तार दिया।

प्रतीकों के माध्यम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने का प्रयत्न भी

उनकी कला म नहीं दिखाई देता। उस समय यह सम्भव ही नहीं था। विदेशी कलावाग म भी व अनुप्राणित नहीं हुए। परन्तु अपन देश म उभरने वाली प्रत्यक विचारधारा को उन्होंने आत्मसात करन का प्रयत्न किया। उनका मल लक्ष्य मानव आत्मा की मावजनीन वेदना का चित्रण है। और वह चित्राकन ममस्पर्शी न हुआ हो यह बात नहीं। निंदिया लागी' उनकी एक सुप्रसिद्ध कहानी है। उसम उन्होंने इसी वेदना के माध्यम से हृदयहीन समाज का खोलता हुआ चित्र अंकित किया है। रूप-यौवन के लाभी आज क मनुष्य की व्यक्ति का दुःख-द्वन्द्व जम छूता ही नहीं। उस कहानी स लेकर चलते चलते उपन्यास तक उनकी यात्रा काफी लम्बी रही है। वह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। चलते चलते म उन्होंने उसके नायक राजेन्द्र का आधुनिक यथार्थ के आधार पर चरित्र चित्रण किया है। अर्थात यथार्थ को भोगने का प्रयत्न किया है। वहा उन्हें एक साहसिक प्रगतिवादी के रूप म देखा जा सकता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इसी राजेन्द्र का स्खलन के रूप म देखा और माना कि इस उपन्यास के गौरव क प्रति आस्थाहीनता का अकन हुआ है। परन्तु दूसरा आलोचक कह सकता है कि जैसे यहा तक पहुंचकर लेखक ने आदर्शवाद की व्यर्थता को पहचान लिया है और एक ऐसे सत्य को स्वीकार कर लिया है जिसे हम झूठ आदर्शवाद के मोह म पड़कर प्राय दबाने की चेष्टा किया करते हैं। हा, यह सत्य है कि शिल्प के स्तर पर उन्हें वैसी सफलता नहीं मिली। सजगता का अभाव उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसीलिए इस उपन्यास म आन्तरिक संघर्ष का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाया। हो पाता तो बख्शी जी को आस्थाहीनता का आभास न मिलता।

वाजपेयी जी कहीं कहीं दार्शनिकता के चक्रव्यूह म भी फस जाते हैं। परन्तु वह उनका क्षेत्र नहीं है क्योंकि उनके पास अपनी कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं है। वे तो निम्न मध्य-वर्ग के जीवन के कलाकार हैं। इसी लिए इन दुर्बलताओं के बावजूद उनकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही है। कहानी के इस युग म भले ही हम उनको भूल जाए लेकिन इतिहासकार उनके योगदान को कभी नहीं भुला सकेगा।

आज का साहित्यकार अपने को एकदम अजनबी समझता है। **वाजपेयीजी**

जीवन भर अजनबी ही बने रहे। भले ही सन्दर्भ और अर्थ भिन्न रहा हो। उनकी विनम्रता सादगी अध्यवसाय वृत्ति और संघर्ष, इनके कारण ही वे आज पिछड़े जान पड़ते हैं। साहित्य और जीवन उनके लिए कभी दो नहीं रहे हैं। एक अति साधारण ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। शिक्षा भी विशेष नहीं हुई। शुरू में ही संघर्ष का सामना करना पड़ा। कुछ दिन अध्यापन किया। हारमन्स लीग के पुस्तकालय में पुस्तकाध्यक्ष रहे। समाज, विश्राम और माधुरी जैसे पत्रों का सम्पादन किया। चार वर्ष तक हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सहायक मंत्री रहे। कई वर्ष सिनेमा संसार में भी व्यतीत किए परन्तु बार-बार उन्हें अपने साहित्य जगत में ही लौटना पड़ा।

संघर्ष का यह सुख भी अद्भुत है। यहाँ पर जिस वेदना से उनका साक्षात्कार हुआ वही उनकी साहित्यिक पूँजी बनी। और इसीलिए निम्न मध्य वर्ग के जीवन की निराशाओं और असफलताओं को सीमित क्षेत्र में ही सही वे मार्मिक अभिव्यक्ति दे सके।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन के अवसर पर वे साहित्य परिषद के अध्यक्ष चुने गए थे। तब उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण लिखा था वह उस समय तक के हिन्दी साहित्य की प्रगति का काफी सही लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। उस पर उनके अध्यवसाय और ईमानदारी की स्पष्ट छाप है। पहली बार तभी उनसे मिलने का मुझे अवसर मिला था। मेरे मन में उनके प्रति सहज श्रद्धा थी। अस्वस्थ होने के कारण मैं अबोहर तो नहीं जा सका पर वहाँ जाते हुए वे दिल्ली में स्वयं मेरे घर आए थे। उनकी सहज सरलता और आत्मीयता से मैं तब अभिभूत हो उठा था। मैं इस क्षेत्र में नया था पर तु उन्होंने न केवल मेरी चर्चा ही की थी बल्कि उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न भी किया था।

तब से लेकर आज तक मैंने उन्हें उसी तरह सहज, सरल और सहृदय पाया है। कहीं भी कुछ भी नहीं बदला है। वस्तुतः वे इतने सरल प्राण हैं कि उनको लेकर अनेक चुटकले प्रचलित हो गए हैं। वे जानते हैं कि वे आज उपेक्षित हैं। उस दर्द को व्यक्त होते भी मैंने देखा है। पर तु उसने उनकी कलम की धार को कुंठित नहीं किया। शायद इसके पीछे जीवन

की माग का आग्रह भी है। मैंने उनसे पूछा — आप अपनी रचनाए एक मुश्त क्यों बेच देते हैं रायल्टी पर क्यों नहीं देते ?

यह सुनकर वे एक क्षण मौन रहे। फिर बोले उठे— विष्णु जी मैं आपकी बात समझता हू लेकिन क्या करू ! मुझे तुरन्त पैसा चाहिए। मैं रायल्टी का इन्तजार कब तक कर सकता हू ?

तब मैंने सोचा था ! जीवन निर्वाह के लिए इन्होंने कोई और रास्ता अपनाया होता। फिल्म जगत में शायद वे इसीलिए गए थे। पर वह दुनिया उन जैसों के लिए नहीं बनी है। उन्हें वापस लौटना पड़ा। 68 वर्ष की उम्र में उन्हें जो परिश्रम करना पड़ता है उसे देखकर मन में जहां पीड़ा होती है, वहा एक प्रकार का आनन्द भी होता है। विश्वास होता है कि जब तक उनके शरीर में प्राण हैं तब तक वे जीवन को जीते रहेंगे।

जब जब भी वे दिल्ली आते हैं प्रायः मुझसे मिलने का प्रयत्न करते हैं। नई दिल्ली के बरामदों में बड़ी देर तक उनसे बातें की है। अपने दुख दर्द की परिवार की बात करते करते वे अन्तर्मुखी हो उठते हैं। उस दिन मैं अस्वस्थ था। आग्रह के साथ वे मुझसे मिलने आए। बहुत देर तक बातें करते रहे। फिर सहसा बोले—'विष्णु जी एक नाटक लिखना चाहता हू। तुम तो इस कला में दक्ष हो। तुम्हारा सहयोग चाहिए।"

मैंने कहा—'ऐसी बात नहीं है। फिर ' मुझे बीच में रोककर उन्होंने कहा— नहीं नहीं तुम मुझे बहुत कुछ सिखा सकते हो। मैं लिखूंगा।'

नहीं जानता उस नाटक का क्या हुआ ! पर उनकी इस मुक्त स्वीकारोक्ति से मैं असमंजस में पड़ गया था। कितने सरल प्राण हैं वाजपेयी जी। ऐसे ही एक दिन मैंने उनसे कहा—'वाजपेयी जी, क्या आपको मालूम है कि आपकी एक कहानी का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है ?

विस्मित विमूढ़ वे कई क्षण मेरी ओर देखते ही रहे। उनकी वह दृष्टि जैसे मुझे बेध रही हो। मानो कहते हो, 'क्या मजाक करते हो।' बोले— सच !'

मैंने कहा— मैं आपको अभी दिखाता हू। आपके पास इसकी एक प्रति आनी चाहिए थी। विश्वास रखिए, इसका पारिश्रमिक आपके

और वे नहीं गए थ। लकिन मैं अपन का नहीं रोक सका। राहुल जी को भी कइ बार देखा था। बेनीपुरी जी का भी दखने के लिय गया। म ध्या का समय था। आल इंडिया मडिकल इस्टीटयूट क किसी तहत के एक कोन म उनका दू सका। वह सूना सूना कमरा नितान्त उदास वातावरण एक ऊच पलग पर मली सी गुन्डी म लिपटे हुए बनीपुरी जी। एक दो व्यक्ति और थ। एक महिला भी था। मर साथ भी दो मित्र थ। हम रुककर बनीपुरी जी क मुख पर फैली हुई बेजान स्मिति कुछ सजीव हु"। पहचान पहचानन की चष्टा की। सम्भवत अपन अन्तरतम म पहचाना भी हो पर हर प्रश्न का एक ही उत्तर उनक पास था — जी जी, जी।

काश! मैं उनक अन्तर की पीडा का शब्द द पाता। इस असमथता की अनुभूति म मेरा मन एक गहर दद स टीस उठा। मामा क व शब्द मूत हो जाए मैं समय की असमथता नहीं दखूगा। काश! मै भी ऐसा कर पाता। कस लग रहे थ वे जस पुष्पमाल्य के सारे पुष्प झर गए हों जस कोई वक्ष जीवन रस क अभाव म स्थाणु बन कर रह गया हो। यही वह व्यक्ति है जिसन अपनी जीवन्त लखनी स हिन्दी साहित्य को व सशक्त शब्दचित्र दिए जो भारत के मूक मानव का प्रतिरूप है। माटी की मूरत म सचमुच भारत क अन्तस और बाह्य, दोनों रूपों का सार्थक समन्वय हुआ है। उनक गद्य म गीति और नाटय दोनों ही रूप मुखर हए हैं। लेकिन अब जो मर सामने एक मूरत है वह उमगन और उल्लसित होन को बेचैन है। पर नियति त्रास उसे जकड लेती है। क्या सचमुच य व ही बनीपुरी जी हैं जिनक साथ मैंन कोटा म अपन जीवन के कुछ सर्वोत्तम क्षण बिताय थ? जिनकी याद आज भी तन मन को तरगित कर दती है। अनवरत हसी के वे ठहाक आज भी जस कानों म रस उडेल रह हैं।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कोटा अधिवेशन कई कारणों म इतिहास म अमर हो गया है। वह जस सम्मेलन का अतिम अधिवेशन हो। उसके बाद आज तक कोई अधिवेशन नहीं हुआ। अपना जनतान्त्रिक रूप खोकर सम्मेलन अब सरकार के हाथ म कठपुतली बन

कर रह गया है।

वह सम्मेलन इसलिये भी याद आयगा कि उसके सभापति ने राष्ट्र नेताओं की निन्दा के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया था वे कटु से कटु आलोचक को भी लजा दे सकते हैं। उन्होंने खुले अधिवेशन में जिस प्रकार श्री चन्द्रबली पाडे का अपमान किया उससे सभी लोग त्रस्त हो उठे थे। श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के शब्दों में कहा जा सकता है— 'इस व्यक्ति ने पच्चीस साल की कमाई तीन दिन में खो दी।

लेकिन इस सबकी चर्चा असंगत है। संगत है केवल बेनीपुरी जी की कथा। सलाईस दिसम्बर को खुले अधिवेशन में एक बन्धु ने एक प्रस्ताव पर बोलते हुए भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के सम्बन्ध में बहुत ही गंदा भाषण दिया था। सभापति उन बन्धु का समर्थन कर रहे थे। उस समय बोलने के लिये खडे हुए श्री रामवृक्ष बेनीपुरी। वे बोले और खूब बोले। समूचे वाता वरण पर जैसे छा गए हों। शब्द आज याद नहीं लेकिन उनका प्रभाव अब भी जैसे मन को आश्वस्त किये हुए है। उस दिन भी सारी सभा आश्वस्त हो उठी थी।

किसी तरह यह सम्मेलन समाप्त हुआ और मुक्ति की सांस ले हम लोग निकल पड़े घूमने। चम्बल पर बांध बनना आरम्भ हो चुका था। सबसे पहले वहीं पहुंचे। पानी बहुत कम था। वह चंचल नदी उस दिन शान्त थी। शायद इसीलिए बेनीपुरी जी अतिशय चंचल हो उठे। चंचल और लोग भी हुए थे पर इस रूप में नहीं।

हमने प्रपात देखा, किला देखा पुरातत्व के मंदिर देखे। सुन्दर दृश्य, सुन्दर प्रतिमायें शिव, विष्णु, महिषासुर मर्दनी सभी की खंडित अखंडित मूर्तियां अधर शिला प्रकृति की रूप-लीला लेकिन इन सबसे ऊपर उठकर बेनीपुरी जी की मुक्त हंसी जो मुखर हुई वह आज भी नहीं भूलती। वे किसी पर चुहल करने से नहीं चूकते थे। लेकिन चोट करते थे अपने पर। जो अपने पर हँसता है वही सचमुच हँसता है। इसलिए उनकी चुहलबाजी में न कटुता थी न द्वेष। थी ऐसी जिन्दादिली जो सबको गुदगुदा देती थी। मैंने भी कम जिन्दादिल नहीं थे। सर्वश्री

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर गोपाल प्रसाद व्यास आर० सी० प्रसाद सिंह प्रोफेसर कपिल देवेन्द्र सत्यार्थी पद्मावती शबनम। इतने ही नाम इस समय याद आ रहे हैं। लेकिन बेनीपुरी जी की मुक्त धारा अपने ही जीवन को परे कर बह रही थी। पत्नी, पुत्र पुत्र वधु चुन्नू मुन्नू सभी की चर्चा हो गई। वह मात्र कल्पनाओं के लोक में विचरने वाले भावुक आदर्शवादी नहीं थे। उनमे व्यवहार-कुशलता और सासारिक हितों की रक्षा करने की अच्छी खासी दक्षता थी। बोले— मैं अपना स्मारक आप ही बना रहा हूं। कौन जाने मेरे पीछे कोई बनाए या नही बनाए। गाव में आलीशान मकान बन रहा है। वह गांव जहा मैंने जन्म लिया जहा भूकम्प के समय महात्मा गाधी पधारे—

फिर सहसा अट्टहास करते हुए बोल उठे— 'दो सौ बीस बोरे सीमेंट ले जा रहा था तो सौ बोरे नदी में बह गए। यह वही नदी है जिसकी मिट्टी उठाकर गाधी जी ने कहा था—इस मिट्टी मे तो सोना पैदा हो सकता है।'

किसी मित्र ने पूछा— 'आपके पास इतना पैसा है?

बेनीपुरी जी तुरन्त बोले— 'पुस्तकों से इतना पैसा आ जाता है कि क्या करूं।'

बेनीपुरी ग्रन्थावली का प्रकाशन भी तो उनकी व्यावहारिक सूझ बूझ का ही परिचायक है। लेकिन उस दिन तो वे हम सबको हँसाने का व्रत लिये हुए थे। मकान से पुत्र पर आ गये। और उनके प्रेम विवाह की चर्चा करते हुए बोले— मैंने तो बहू से कह दिया है कि यह सीता की भूमि है। यहा चौदह वर्ष का बनवास मिलता है। पर बेटी कोई चिन्ता नही पुत्र पैदा किये जा।

फिर वह जोर से अट्टहास किया और बोले — मेरे पास जब श्रीमती का पत्र आया तो मैंने अपने पुत्र से कहा—देखा बेटा तुम्हें ही नहीं हम भी स्त्रियां पत्र लिखती हैं।

तब कितना हंसे थे हम लोग। लेकिन वे थे कि अपनी पत्नी को भी क्षमा नहीं कर सके। पर इस यात्रा में मात्र परिवार की ही चर्चा नहीं हुई मित्रों की भी हुई और राजनीति की भी छूट नहीं रहा। श्री जयप्रकाश

नारायण किस प्रकार जेल से भागे, यह सब भी उन्होने सुनाया। उस दिन उन अनवरत ठहाकों के बीच अपनी शक्ति और दुर्बलता को मानो उन्होने भूल कर दिया। उस समय कोई कह सकता था कि उन्हें कभी दमे का रोग भी हुआ होगा।

उस दिन आल इंडिया मेडिकल इंस्टीटयूट के उस उदासी भर ठंडे कमरे में ये ही सारे चित्र मेरे मानस पर उभरते रहे और मुझे त्रस्त करते रहे। निश्चय ही उनके चेहरे पर उस समय भी जवानी थी। आखों में चमक थी। लेकिन जैसे किसी ने उड़ते हुए पंछी के पंख नोच लिए हों, जैसे कोई तेजस्वी नक्षत्र घने कुहरे में घिर गया हो।

याद आ गए उन्हीं के शब्द। पेरिस में टैक्सीवाले ने उनसे पूछा

आप भारतवासी है।

हां भाई मैं भारतवासी हूं। उनका उत्तर था।

क्या करते हैं आप ?"

लेखक हूं।

सहसा टैक्सी रुक गयी। टैक्सीवाले ने नीचे उतरकर बेनीपुरी जी को बाकायदा सलाम किया। गंतव्य स्थान पर पहुंचने पर किराया लेने से भी इन्कार कर दिया।

गदगद होकर बेनीपुरी जी ने पूछा हमारे देश में लेखक का यह सम्मान कब मिलेगा ?'

अभी यह प्रश्न अनुत्तरित है।

और भी कई बार उनसे मिलना हुआ। दिल्ली में उस बार जब उनके नाटक—अम्बपाली का मंचन हुआ था। तब भी जब वे बेनीपुरी ग्रंथावली निकालने में तल्लीन थे। वही उत्फुल्ल चेहरा वही मधुर मादक स्मिति, मुक्त मुखर अट्टहास

उन्होंने असहयोग युग में पढ़ना छोड़ा और जीवन भर संघर्ष करते रहे। उन्होंने गरीबी का स्वयं अनुभव किया। अभाव व अन्याय को अपने ऊपर झेला। तभी तो उनकी कृतियों में उन सबकी समवेत धड़कन सुनाई देती है। स्वतंत्रता संग्राम हो या विधानसभा पत्रकारिता हो या साहित्य का क्षेत्र, सम्पादन हो या सृजन, बेनीपुरी जी शक्ति और गति में

विश्वास करते थे पर उस शक्ति का आधार घृणा नहीं आत्म बलिदान है। वे महत्वाकांक्षी थे पर व भावुक आदर्शवादी भी थे। उनके अ तर म जस एक अग्नि सुलगती रहती थी। यही अग्नि उ ह सदा सक्रिय बनाय रहती थी। जब तक उ होंने अपने योग से दोनों को साधा वह अग्नि उ ह शक्ति देती रही। पर सतुलन के बिगडते ही उस अग्नि पर जस राख छा गई जस राजनीति के जादूगर न उस अपने जादू स शा त कर दिया।

कौन जाक सकेगा उस व्यक्ति की व्यथा को जिसकी जीवन सरिता के ऊपर शाश्वत हिम का अधिकार हो गया था। इसलिए उ हे न अनुभूति के सु न हो जाने का दु ख था न चेतना के मना खो देने की पीडा।

मैं उ ह देख रहा था देखे जा रहा था। सहसा लगा जस व अब खिलखिला उठेंगे और सदा की तरह कहेंगे— कोई चि ता नहीं विष्णु जी मैंने बहुत कुछ किया, अभी भी बहुत-कुछ करूगा। तुम सुनाओ तुमने क्या लिखा है! किसी से प्रेम क्रम चल रहा है कि नहीं! मैं तो भाई आजकल मत्यु के साथ पूर्व राग म लीन हूं। पूर्ण राग होते ही सजन के स्वर साधूगा और उल्लास के गीत गाऊगा

बस यही उल्लास भरा क्षण बेनीपुरी जी का था। यही अमर रहेगा।

श्री उदयशंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट उन व्यक्तियों में थे जो सतत साधना के बल पर सफलता की ऊंचाई को छू लेते हैं। जीवन के बारे में जिस अभाव और अन्याय के मार्ग से होकर उन्हें अपनी मंजिल की ओर बढ़ना पड़ा था वह स्थिति बहुतों को हतोत्साहित कर सकती है। लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी प्रतिभा चुनौती पाकर ही निखरती है। भोर की उस वेला में उन्होंने साधुओं और बनियों की कुटियों के चक्कर काटे, फकीरों, मजदूरों और भिखारियों के सम्पर्क में आए, गांव की चौपालों पर आल्हा का ओजस्वी स्वर सुना और पत्थर काटने वालों का संगीत सुनते सुनते रातें बिताई। साधनाजन्य यह अनुभूति ही कालान्तर में उनकी सफलता का मेरुदण्ड बनी। उनके सम्पर्क में आने वाले बहुत कम व्यक्ति उनकी आत्मा में पाकर इस तथ्य को पहचान सके थे। अकेलेपन और असामाजिकता की उनकी यह प्रवृत्ति बहुतों के लिए अपरिचित ही रह गई, क्योंकि वह ऐसी स्थिति में आ गए थे जहां वह किसी को खींचते नहीं थे बल्कि दूसरे व्यक्ति ही उनकी ओर खिंचते थे।

इस जीवन की कुछ झांकी उनके कुछ उपन्यासों में मिल सकती है। परम्परा की संकीर्णता पर प्रहार करते हुए दम्भ और राग का उद्घाटन बड़ी निर्ममता के साथ निरावरण किया है। 'सागर लहरें और मनुष्य' जीवन में गहरी पैठकर प्राप्त की गई इसी अनुभूति का मूर्तिरूप है। वह कुलीन ब्राह्मण परिवार के थे लेकिन मछुओं के जीवन का समर्थन करने हेतु उनके बीच में आकर रहने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं हुआ। उनका यथार्थ

प्रवृत्तियाँ नहीं है। इसलिए इस उपन्यास की महत्वाकांक्षिणी नायिका रत्ना अपने आसपास की परिस्थितियों से जूझती हुई परम्पराओं को चुनौती दे सकी है।

पंजाब प्रवास के समय वह भगतसिंह और भगवतीचरण जैसे क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आए। उसी सम्पर्क का परिणाम है 'क्रान्तिकारी नाटक'। इस नाटक की दुर्बलता शिल्प की दुर्बलता है कथानक की नहीं।

एक ओर उन्होंने अपने अनुभव से जीवन के निमम यथार्थ को पाया था दूसरी ओर विरासत में मिली थी प्राचीन संस्कृति की धरोहर। इस धरोहर को आधार बनाकर उन्होंने अनेक रचनाओं का सृजन किया। उनके विचारों से मतभेद हो सकता है लेकिन अपने लेखन के प्रति वह ईमानदार रहे थे यह दोष उनके विरोधी भी उन पर नहीं लगा सकते। इसीलिए जहाँ उन्होंने प्राचीन संस्कृति का स्वर घोष किया वहाँ वर्तमान की कुत्सा पर भी चोट करने से नहीं चूके। इस चोट का माध्यम था उनका मोहक व्यंग्य। एक समय इसी कारण उनके अनेक एकांकी आदि बन गए थे। दस हजार, पर्दे के पीछे, बाबूजी, बड़े आदमी की मृत्यु' और 'बीमार का इलाज' ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। उनका व्यंग्य मात्र निषेधात्मक नहीं है रचनात्मक है।

नाटक के क्षेत्र में उनकी मौलिक देन है उनके भाव नाट्य जो मनुष्य के आन्तरिक संघर्ष को चित्रित करते हैं। 'विश्वामित्र' मात्र पुराण प्रसिद्ध ऋषि नहीं हैं साधारण मनुष्य भी हैं जो अपने अहं से पीड़ित हैं। मेनका एक ऐसी समर्पिता नारी का प्रतीक है जो समर्पण द्वारा नर की स्वामिनी बनती है। इसके विपरीत उर्वशी नारी के अहं का रूप है। वह रूप जो जीवन में उत्थान और पतन की सृष्टि करता है। मत्स्यगन्धा में नारी का यौवन वर और कैसे अभिशाप बन जाता है यही तथ्य रूपायित हुआ है।

भट्ट जी ने अनेक विधाओं द्वारा अपने को व्यक्त किया है। अमूर्त विचारों के लिए कविता को अपनाया लेकिन जीवन का विशद चित्रपट अंकित करने के लिए नाटक और उपन्यास का परिधान ग्रहण किया। मात्र विचारों के लिए निबंध की अभिव्यक्ति स्वीकार की। वह भारत

थे कि नई कविता मात्र बौद्धिक है और बुद्धि तत्व ही कविता का अन्तिम तत्व नहीं है, केवल एक प्रयोग है। उन्होंने स्वयं भी बौद्धिक कविताएँ लिखी हैं। लेकिन ये प्रयोग उन्होंने मात्र प्रयोग के लिए नहीं अपने सन्तोष के लिए किए। साधारणतया मनुष्य मृत से अमृत की ओर चलता है। लेकिन वह अमृत से मृत की ओर बढ़े। उन्होंने इस विकास को अपने असन्तोष पर आधारित नहीं किया, गति और तीव्रता को इसका कारण माना।

इन सब प्रयोगों के बावजूद वह मध्ययुगीन ही थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हें कभी आकर्षित नहीं कर सकी। बंगला कहानी ही उनका आदर्श बनी रही। वह कुंठाओं के विशद चित्रण में विश्वास नहीं करते थे। उनका परम्परा ही उन्हें प्रिय था। पीढ़ियों के संघर्ष को वह विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति मात्र मानते थे। परम्परा से मुक्ति पाने का अर्थ उनके लिए विकृतियों और रूढ़ियों से मुक्ति पाना था। उनके लिए संस्कृति सतत प्रवाहमान थी। नये मूल्यों के लिए पुराने मूल्यों का हनन करने में वह विश्वास नहीं करते थे। आम को वह साहित्य की दुर्बलता नहीं मानते थे। चिन्तन उनके लिए दर्शन का आधार था, साहित्य का नहीं। साहित्य है तो उसमें आवेग और आवेश अनिवार्य है। वही साहित्य उनके लिए सत्य था जो मस्तिष्क पर आघात करता हुआ हृदय विचलित कर देता है।

व्यक्तिगत जीवन में दूर से देखने पर वह अत्यन्त गर्व रोमांटिक जान पड़ते थे। उनकी वेशभूषा इस भ्रम को और भी उग्र बना देती थी। मित्रों में वह जल्दी ही नहीं घुलमिल जाते थे, क्योंकि आलोचना और आक्षेप उनको विचलित कर देते थे। उनके लिए हास परिहास की एक सीमा थी—शिष्टाचार की सीमा। फिर भी मुक्त अट्टहास करते मैंने उनको देखा है। उनके अन्तर में वास्तव में वह हृदय था जो सारे संघर्षों के बावजूद चिर युवा रहना चाहता था, इसलिए वह युवा मित्रों के बीच बैठकर खूब हँसते थे। मुक्त बातें भी करते थे। लेकिन उनकी सांस्कृतिक धरोहर उन्हें रखरखाव पर विवश कर देती थी।

मेरे निमंत्रण पर वह एक बार शनिवार समाज में बोलने के लिए

आग । उनका परिचय देते हुए मैंने उन्हें वयोवृद्ध साहित्यकार कहा था। इस वयोवृद्ध शब्द को पकड़कर सहसा कई मित्र हँस पड़े । दूसरे दिन फोन की घंटी बज उठी । भट्टजी कह रहे थे— मुझे तुमसे अत्यंत आवश्यक काम है तुरंत आओ ।

पहुँचने पर किंचित क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा— मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी । कल भारी सभा में तुमने मेरा अपमान किया ।

हतप्रभ सा मैं बोला— समझा नहीं आप क्या कहते हैं ?

उन्होंने कहा— तुमने मुझे वयोवृद्ध कहा। क्या मैं तुम्हें बूढ़ा दिखाई देता हूँ ! मैं तुम्हारे जैसे युवकों से अधिक युवक हूँ

निमिष मात्र में सब कुछ स्पष्ट हो गया । उन मित्रों की अशिष्टता ने उन्हें उद्विग्न कर दिया था इसीलिए उनका चिरयुवा हृदय व्यथित हो उठा था । अत्यंत विनम्रता से मैंने कहा— वयोवृद्ध से मेरा आशय आयु से नहीं था आपकी साहित्य सेवा को देखते हुए मैंने इस शब्द का प्रयोग किया था ।

इसी प्रकार एक बार आकाशवाणी के उनके कार्यालय में कई साहित्यिक बंधु एकत्रित हुए थे । उस दिन श्री भी थे । बातें करते करते सहसा उन्होंने दोनों पैर उठाए और मेज पर फैला दिए । जान बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया था । अक्सर ही सीमाओं का ध्यान रखना वह भूल जाते थे । वे मानते हैं मित्रों के बीच में सीमा कैसी ? लेकिन भट्ट जी कायदे के आदमी थे । भड़क उठे बोले— यह क्या बदतमीजी है पर हटाओ ।

श्री ने तुरंत पैर हटा लिए। कहा— मेरा उद्देश्य आपका अपमान करना नहीं था । मैं आपकी बहुत इज्जत करता हूँ । मैंने तो सहज भाव में

भट्ट जी मुसकराये— सहज भाव इतना विकृत होता है क्या ? अच्छा बोलो क्या पिओगे ?

पीने की इच्छा तो कॉकटेल की है पर असली कॉकटेल आप कहाँ पिलाएंगे । दो लेमन मंगा दीजिए उन्हीं को मिलाकर कॉकटेल का

आनन्द ले गूंगा।' और क्षण भर में वह स्तब्ध वातावरण अट्टहास में गूंज उठा।

इन प्रमाणों की कोई सीमा नहीं है। गत वर्ष उनके सार्वजनिक सम्मान के अवसर पर उनकी साहित्यिक मान्यताओं के संबंध में मैंने एक इन्टरव्यू लिया था। उसको लिपिबद्ध करने के बाद स्वीकृति के लिए जब उनके पास भेजा तो सहसा टेलीफोन की घंटी बज उठी। उस ओर से व्यथित स्वर में भट्ट जी कह रहे थे—'यह तुमने क्या लिख दिया ? क्या मैं सचमुच कथावाचक सा लगता हूं। मेरे मरने के बाद तुम कुछ भी लिख सकते हो लेकिन जीते-जी तो ऐसा अन्याय मत करो। तुमने और भी बहुत-कुछ अनाप-शनाप दिया है। मैं तुम्हें अपना ही समझता हूं इसलिए यह सब कह रहा हूं। नहीं तो ''

मैं स्तब्ध रह गया क्योंकि जो कुछ मैंने लिखा था उसका उद्देश्य आदर और बराबर तो कभी हो ही नहीं सकता था। मैंने कहना चाहा था कि दूर से देखने पर किसी को उनके कथावाचक होने का भ्रम हो सकता है। पर पास पहुंचने पर उनके गहरा का मर्मभेदी तेज सामने वाले व्यक्ति को अभिभूत कर देता है। एकान्तप्रिय होने पर भी मित्रों से उन्हें प्रेम है और किसी भी गोष्ठी में वह पूरे आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

सुनकर भट्ट जी बोले— नहीं नहीं, तुम मुझे नहीं जानते। समाज में जाना मुझे तनिक भी प्रिय नहीं है। भीड़ में मैं घबराता हूं। मैं आज तक लाल किले के स्वतन्त्रता समारोह में नहीं गया। मैं अकेला हूं, बिलकुल अकेला।'

मैं समझ गया कि उन्होंने इतना कुछ सहा कि अब उन्हें उस उदासीनता से मुक्त करना असम्भव जैसा ही है। जब भी ऐसे अवसर आए, मैंने उनको चुपचाप पीछे हटते जाते देखा। प्रत्याक्रमण उन्होंने कभी नहीं किया। एक साहित्यिक बन्धु के विवाह में हम लोग साथ साथ गए थे। हास परिहास की कोई सीमा नहीं थी लेकिन आयु की तो एक सीमा होती है। भट्ट जी हम सब में वयोवृद्ध थे। एक नवयुवक मित्र ने परिहास के आवेश में कहा— भट्ट जी भट्ट का एक अर्थ गुण्डा भी होता है।' अगर हम आपको '

और वह मित्र जोर से हँस पड़े। वह शरारत से छलछलाती हँसी भट्ट जी मुसकरा कर रह गए। लेकिन आँखें क्या कभी किसी को धोखा देती हैं? उनकी ओर देखते ही मैं सकपका गया। क्षण भर के लिए जैसे एक अशुभ मौन ने वातावरण को ग्रस लिया हो। स्टेशन आने तक कोई कुछ नहीं बोला। भट्ट जी चुपचाप उतरकर चले गए। गाड़ी फिर चल पड़ी। लेकिन वह नहीं लौटे। अगले स्टेशन पर ही मैं उनको ढूँढ़ सका। पूछा—'आप कहाँ रह गए थे?'

वह बोले—मेरे एक शिष्य मिल गए थे उन्हीं के साथ बैठ गया था।

मैंने कहा—तो अब आइए।

मेरा घर इसी स्टेशन के नजदीक पड़ता है यहाँ से चला जाऊँगा।

वह चले गए और उन नवयुवक मित्र को इस पर बड़ा क्रोध आया। कहा—जब वह परिहास में रस लेते हैं दूसरे पर हँस सकते हैं तब सह क्यों नहीं सकते?

यह भी एक तर्क हो सकता है परन्तु शिष्टता की एक सीमा होती है। साधारणतया पुराने व्यक्ति उन सीमाओं में बँधे रहते हैं। फिर भी भट्ट जी की प्रतिक्रिया कभी अप्रियता की सीमा तक नहीं पहुँची जब कि उनके पहले की पीढ़ी के लोगों की कभी कभी पहुँच जाती थी। आज के युग में भी पहुँच जाती है। स्वयं भट्ट जी ने श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के सम्बन्ध में एक घटना सुनाई थी। तब वह युवक थे। किन्हीं बुजुर्ग के साथ उपाध्याय जी से मिलने गए। परिचय होने पर उपाध्याय जी ने पूछा—इधर आपने हमारे 'चुभते चौपदे' पढ़े?

भट्ट जी बोले—जी हाँ पढ़े हैं।

उपाध्याय जी ने पूछा—कैसे लगे?

भट्ट जी बोले—मुझे तो अच्छे नहीं लगे।

कुछ और भी चर्चा हुई थी। उपाध्याय जी ने सहसा नौकर को आवाज दी। कहा—लालटेन लेकर इन सज्जन को रास्ता दिखा दो।

उन दिनों सम्भवतः पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' दिल्ली से हास्यरस का एक साप्ताहिक निकालते थे। एक दिन देखा कि उसके मुखपृष्ठ पर भट्ट

जी का एक बड़ा सा चित्र छपा है। परिचय के स्थान पर लिखा है—'आजकल आप आल इंडिया रेडियो में हैं।' लेकिन रेडियो के 'र' के ऊपर ए की मात्रा वास्तव में अनुस्वार की एक बड़ी सी बिन्दी थी। अगले पृष्ठ की मात्रा के कारण वह ए की मात्रा मालूम होती थी। पृष्ठ उठाकर देखने पर 'रेडियो' के स्थान पर 'रंडियो' शब्द पढ़ा जाता था। उस समय कोई भी इस रहस्य को नहीं पहचान सका। भट्ट जी बहुत प्रसन्न हुए कि उग्र जी ने उनका सम्मान किया है। परन्तु घर जाकर वह इस रहस्य को पहचान गए। अगले दिन जब मैं उनसे मिला तब वह कुछ उत्तेजित अवश्य थे। फिर भी बड़ी शिष्टता के साथ एकाध वाक्य कह कर इस प्रकरण को समाप्त कर दिया। आक्रोश का उफान मैं तब भी उनमें नहीं देख सका। वास्तव में अपने बचपन और यौवन में उन्हें जो कुछ सहना पड़ा था, उसी के कारण वह अन्तर्मुखी हो गए थे। वेदना उन्हें होती थी पर उसे पीना ही उन्हें प्रिय था।

भट्ट जी के जीवन में विरासत में प्राप्त सांस्कृतिक धरोहर और स्व-अर्जित नग्न यथार्थ का अद्भुत द्वंद्व मूर्त हुआ था। उनमें वे सभी दुर्बलताएं थीं जो प्रायः साधारण मनुष्य में होती हैं। इस मर्मभेदी नग्न यथार्थ ने उन्हें जो अन्तर्दृष्टि दी थी वह यथार्थ की ऊपरी परत को भेद कर मर्म को छूने के लिए सदा प्रयत्नशील रहती थी, इसीलिए सहना जानती थी। भट्ट जी भी सहते थे। उग्र होकर प्रत्याक्रमण नहीं करते थे। कभी-कभी सोचता हूँ काश, उनमें यह प्रत्याक्रमण करने का साहस होता तब सम्भवतः उनके साहित्य का स्वर अधिक प्रखर और मुखर हो पाता।

लेकिन उनके भीतर का एकाकी मानव समझौता करने को तैयार नहीं था।

डा० कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब'

यह सयोग की ही बात है कि काशी के मास्टर से मेरा प्रत्यक्ष परिचय पहली बार आकाशवाणी के दिल्ली केंद्र पर हुआ था और अतिम बार भी उनसे मेरी भेंट आकाशवाणी के ही एक केंद्र इलाहाबाद में हुई। दोनो बार वे एक कवि सम्मेलन में भाग लेने आए थे। पहली बार दिल्ली केंद्र के स्टूडियो न० १ में सुशिक्षित जनसमूह के बीच बैठकर मैंने उनकी वह कविता सुनी थी जिसके कारण वे काफी लोकप्रिय हुए। जब कभी मैं अपने सिर पर हाथ फेरता हूं और पाता हूं कि वहां का उपजाऊ प्रदेश धीरे धीरे ऊसर में परिवर्तित होता जा रहा है या किसी अन्य सज्जन की चमकती हुई चांद देखता हूं तो मुझे सहसा बेढब जी की गंजी खोपड़ी की वे पंक्तियां याद आ जाती हैं—

> इस तरह है यह चमकती खोपड़ी
> देख सकते आप अपना रूप है
> चांद पर है चांदनी मानो पड़ी
> आइना इसको लगे हैं मानने
> है बनाया हाथ से भगवान ने
> हाथ अपने आप जाता है उधर
> बैठ जाता हाथ तब तत्काल है
> जिस तरह सम पर ध्रुपद की ताल है।

उस दिन जितना हंसा था उतना हंसने का अवसर शायद ही कभी मिला हो। उस सभा में सौन्दर्य फैशन प्रभुता और प्रतिभा सभी का

प्रचुर रूप में प्रतिनिधित्व हुआ था। वे सभी ठहाका लगाने में एक दूसरे से होड ले रहे थे। सबकी दृष्टि अपने आस पास चमकती हुई चाँद को खोज रही थी और मास्टर साहब समरस हो शान्त मंद स्वर में गंजी खोपडी पढ़ते चले जा रहे थे।

भारतीय और पाश्चात्य सभी हास्यकारों ने गंजी खोपडी को हास्य का आलंबन बनाया है, लेकिन इतनी शिष्ट और सारगर्भ भाषा का प्रयोग बहुत ही कम व्यक्ति कर पाए। जीवन में हास्य का उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना काम और अर्थ का। जो व्यक्ति हँस नहीं सकता वह सुखी नहीं रह सकता। हास्य मात्र ऊर्जा ही नहीं है, वह एक जीवन पद्धति भी है। विनोद के अभाव में वह निरर्थक ही नहीं भयानक भी प्रमाणित हो सकती है। संसार के सभी महापुरुषों ने इसकी शक्ति और उपयोगिता को स्वीकार किया है। महात्मा गांधी ने कहा था—"यदि मुझमें विनोद वृत्ति न होती तो मैं कभी मर गया होता।"

दुर्भाग्य से हमने हास्य विनोद के महत्त्व को सही रूप में कभी नहीं आंका। सहज रूप में स्वीकार कर लिया कि हास्य की सृष्टि करना अत्यंत सरल है। कुछ भौंडी उक्तियां कुछ अश्लील उपमान, कुछ अटपट शब्द और प्रतिभा का कुछ साहसिक प्रदर्शन करना हो तो कुछ गालियां भी बस हास्य विनोद का यही नुस्खा हमारे साहित्य में प्रचलित रहा है। लेकिन निर्मल हास्य के लिये सचमुच निर्मल कपट, छलछिद्ररहित हृदय की आवश्यकता होती है और धाराप्रवाह भाषा सदा ऐसे निर्मल हृदय का अनुसरण करती है। बेढब जी जैसे हास्य साहित्य का सृजन उतना ही कठिन है जितना दर्शनशास्त्र की गुत्थियां सुलझाना या उच्च गणित के सिद्धांतों का प्रतिपादन करना।

कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो अपनी रचना पढ़ते समय स्वयं तो गंभीर रहते हैं और श्रोतागण अट्टहास कर-करके परेशान हो उठते हैं। मास्टर साहब हास्य की सृष्टि बेढब बनारसी के नाम से करते थे। मैंने उन्हें भी उन्हें अपनी रचनाएं पढ़ते देखा कभी भी हँसते नहीं थे। मैं नहीं जानता वे कभी ठहाका लगाते थे या नहीं, परन्तु चश्मे के भीतर उनकी आंखों में शरारत भरी मुस्कान की झलक अवश्य

यह गभीर मुद्रा और शरारत भरी मुस्कान! हास्य रस का इसमे बडा आलवन और क्या होता होगा?

मास्टर साहब शिक्षाविद भी थे। डी० ए० वी० कालज बनारस के प्रिंसिपल पद से उन्होने अवकाश ग्रहण किया था। अपने जीवनकाल म सहस्रो विद्यार्थियो की उन्होंने ज्ञान की प्यास बुझाई। वे यदि गभीर और परिष्कृत हास्य-व्यग्य न लिखते तो और कौन लिखता? इसलिये कभी कभी ऐसा होता था कि जब वे अपनी पूरी बात कह लेते उसके बाद ही श्रोताओ को हँसी आती थी। उनकी कहानिया और निबध पढकर सहसा हसने को मन नही करता लेकिन जैसे ही शब्द मन के भीतर उतरते है तो उत्फुल्लता उमड पडती है। यह उनकी दुर्बलता हो सकती है लेकिन अशिष्टता किसी भी तरह नही। बहुत दिन पहले उनका एक लेख पढा था जिसमे उन्होने आज से लगभग सौ वर्ष बाद के ससार की एक झाकी दी थी। उसमे उन्होने उस युग म प्रचलित कुछ परिभाषाए दी था। उदाहरण के लिए ईश्वर की परिभाषा देखिए—एक खिलौना जब मनुष्य अर्धसभ्य था तब इससे खेला करता था। इसकी विशेषता यह थी कि जो मनुष्य जब चाहे इसका रूप अपनी मौज के अनुसार बना सकता था। उन्होंने शराब की परिभाषा इस प्रकार की है—एक पेय यो तो लाखो वर्षों से इसका प्रयोग होता चला आया है किन्तु जब से वैज्ञानिक युग शुरू हुआ है यह प्रमाणित हो गया है कि इससे मस्तिष्क को बडा लाभ पहुचता है। विधान द्वारा सरकारी कर्मचारी और साहित्यकार के लिये यह अनिवार्य कर दी गई है।

इन शब्दो म अपने आपमे कोई एसी विशेषता नही है कि सहसा हसी फूट पडे लेकिन जैसे ही इनका अर्थ अपनी ध्वनि बिखरता है तो इनका शिष्ट व्यग्य मन को कचोट देता है। शिक्षाशास्त्री होने के नाते उन्होंने जिस मर्यादा को स्वीकार किया था उसने जहा उनकी रचनाओ को गरिमा प्रदान की वहा उनकी जनसुलभ लोकप्रियता पर कुछ अकुश भी लगाए।

अपने व्यक्तिगत जीवन म वह बहुत ही सहृदय और सौम्य स्वभाव के व्यक्ति थे। उनके मित्रो की सख्या सीमित नही थी। उनके कार्य क्षेत्र भी अनेक थे। शिक्षा, साहित्य पत्रकारिता सस्थाओ का सगठन

सभी क्षेत्रों में वे आए और लोकप्रिय हुए। अनेक पत्रों का उन्होंने संपादन किया। अनेक पत्रों में हास्य व्यंग्य के कालम लिखे। प्रधानतः वे कवि थे, लेकिन आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने ठोस काम किया है। 'आधुनिक खड़ी बोली का इतिहास' इस बात का साक्षी है। वह उस युग के प्रतिनिधि थे जब साहित्य में सम्राटों का बोलबाला था। प्रेमचन्द (उपन्यास) प्रसाद (कवि) रामचन्द्र शुक्ल(आलोचना) ये तीनों सम्राट काशी में रहते थे। तब काशी निवासी बेढब जी को हास्य व्यंग्य का चौथा सम्राट क्यों नहीं माना जा सकता? शिष्ट हास्य की अनेक अमूल्य कृतियां उन्होंने दी हैं। कविता कहानी निबंध, सभी विधाओं पर उनका समान अधिकार था। जीवन के अंतिम क्षण तक उनकी प्रतिभा का स्रोत मन्द नहीं पड़ा।

उनका पूरा नाम कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' था। गौर वर्ण सौम्य सुन्दर मुखाकृति सरल मधुर स्वभाव और धाराप्रवाह निकलने वाले व्यंग्य विनोद से ओत प्रोत शब्दों को सुनकर श्रोता पुलकित प्रभावित हो उठता। अपने यौवन में वे निरंतर आकर्षण के केन्द्रबिन्दु रहे होंगे। मुझे उनका आतिथ्य और अतिथि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रत्येक बार ऐसा लगा कि मैं अत्यन्त सात्विक और आत्मीयतापूर्ण वातावरण में रह रहा हूं। वे जितना धीमे बोलते थे उतना ही धीमे से हंसते भी थे। अंतिम बार अचानक ही जब आकाशवाणी के स्टाफ-आर्टिस्ट कक्ष में मिलना हुआ तो पाया जैसे वे कुछ थके थके से हैं। यशपाल जी भी साथ थे। उन्होंने मेरा परिचय कराने की दृष्टि से जैसे ही कहा मास्टर साहब जी ये विष्णु प्रभाकर ... वे तुरंत बोल उठे— 'अरे तुम इनका परिचय कराओगे। मैं तो इनके घर भोजन कर आया हूं।'

और यह कहते हुए उनकी आंखों में वही सहज मुस्कान चमक उठी। बड़े स्नेह से देर तक बातें करते रहे। मैंने कहा— आपका स्वास्थ्य कैसा है? कुछ थके थके से दिखाई दे रहे हैं।

बोले— 'ठीक है नजदीक पहुंच रहे हैं। तुम तो जानते ही हो।' मैंने कहा—'अभी आपको ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिए।

वे मुस्करा उठे। उस क्षण मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता था कि अगले हफ्ते दिल्ली लौटकर मुझे वह समाचार सुनना पड़ेगा,

अब प्रभावी होकर भी मन को पीडा से भर देता है। मेरी उनकी इतनी घनिष्ठता नहीं थी जिसे पारिवारिकता का संज्ञा दी जा सके लेकिन इस *अल्पपरिचय के परिणामस्वरूप भी मेरे मन में उनके प्रति ऐसा स्नेहभाव पैदा हो गया था जो जोडता है तोडता नहीं।*

उनके संबंध में बहुत कुछ वर्षों से सुनता और पढ़ता आया हूँ। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन दोनों ही संस्थाओं में बहुत काम किया है। हिन्दी के प्रति उनकी ममता अगाध थी लेकिन *उनका प्रचार स्वर सम्प्रदायता से दूर रहा है। किसी दलविशेष के साथ उनका* संबंध आधुनिक राजनीति के स्तर तक पहुंच गया हो ऐसा कभी नहीं सुना। यों काशी वालों का अपना दल होता ही है, लेकिन वहां भी *उनका रचस्व परिष्कार की ओर ही अधिक रहा होगा।* सुनता हूं उन्हें क्रोध भी आता था। उस समय उनके स्नेह के आनन से पूर्ण अहिंसक आकृति कैसी लगती होगी?

वे द्विवेदीकालिक हास्य को परिष्कृत करके वर्तमान युग में ले आए थे। इतिहास इसके लिए उनका कृतज्ञ रहेगा। काशी विद्वत्ता और *प्रतिभा की नगरी है। विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक और संत वहां हुए हैं। कबीर* और भारतेंदु जैसे युगप्रवर्तक अक्खड और मस्त जीव भी वहां हुए हैं। दोनों ही दबंग और मानवीयता से ओत प्रोत थे। बेढबजी पर इन सबका प्रभाव था। तुलसी का परिष्कार कबीर और भारतेंदु की अल्हड मस्ती ऐसी उज्ज्वल परंपरा की वे मधुर कड़ी थे। लेकिन आज तो परंपरा में *किसी का विश्वास नहीं रह गया है इसलिए उनका स्थान कौन लेगा या* किसने लिया है इसपर चर्चा करना व्यर्थ है। यही कहा जा सकता है कि वे अपनी परंपरा आप थे। वे अपने पूर्वजों के ही उत्तराधिकारी नहीं थे, अपने उत्तराधिकारी भी थे।

थी। आशा भी की थी कि रचना छपेगी लेकिन हुआ यह कि कुछ दिन बाद वह वैसी-की वैसी ही लौट आयी। याद नहीं आता कि सपादक का खेद भी पा सका था या नहीं। लेकिन क्रोध तो निश्चय ही आया था।

आज उस धुंध के पार देखने की आवश्यकता नहीं है लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि तब यह बात मेरे मन में किसी भी तरह नहीं आयी होगी कि एक दिन उन्हीं आदरणीय सपादकों के इतना निकट जाने का अवसर मिलेगा जिन्होंने मेरी रचना लौटा दी थी।

4 जनवरी 1941 का दिन था। ज्ञान टिकट लेकर घूमते घूमते मैंने पाया कि ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ़ जा पहुंचा हूं। चतुर्वेदी जी उन दिनों वहीं रहकर 'मधुकर' पाक्षिक का सपादन कर रहे थे और उनके सहयोगी थे श्री यशपाल जैन। वस्तुतः इस यात्रा का उद्देश्य यशपाल जी के पास जाना ही था। यदि यशपाल न होते तो मैं चतुर्वेदी जी के पास जाने का साहस न कर पाता।

अब मैं उन दिनों का वर्णन करूं

4 जनवरी 1941 बादल थे पर सर्दी नहीं थी। ललितपुर से सवेरे दस बजे बस द्वारा टीकमगढ़ के लिए रवाना हो गया। धरती पथरीली है पर वृक्षों का अभाव नहीं है। मार्ग में दो नदियां भी मिलीं। आस पास के दृश्य सुन्दर लगे। (वन मुझे सदा आकर्षित करते हैं।)

यशपाल नगर से बाहर रहते हैं। तब यह मालूम नहीं था। सीधे टीकमगढ़ पहुंच गये। उसे नगर कहना नगर का अपमान करना है। नितान्त गन्दा गांवड़ा जैसा ही था। हां, बाहर के दृश्य सुन्दर थे। ताल के किनारे शायद राजमहल है। नगर में पहुंचकर गलती मालूम हुई लेकिन चतुर्वेदी जी का नाम सुनकर बस वाला हमें वापिस लाने के लिए तैयार हो गया। उनके नाम के कारण पुलिस वालों ने भी अधिक जांच पड़ताल नहीं की। (उन दिनों प्रत्येक देशी रियासत में पुलिस प्रत्येक आने जाने वाले का अता पता रखती थी। हम जैसे खद्दरधारियों पर तो विशेष कृपा थी।)

कुण्डेश्वर सुन्दर स्थान है। नदी किनारे भवन प्राकृतिक दृश्यों से घिरा नाना प्रकार के पेड़ पौधे वन में बन्दर हैं तो चीतल भी हैं। याद

करने ही दूर बन में चीतल दिखाई दिए। उन स्वर्णमृगों को देखकर बहुत अच्छा लगा। बताया कि तेंदुआ आदि अन्य पशु भी हैं। वहाँ यह मनोरम प्रकृति और वहाँ वह गंदा गाँव, जहाँ मक्खियाँ ही प्रमुख थीं।

याद है कि जाते ही चतुर्वेदी जी से भेंट नहीं हुई थी। शायद वे सो रहे थे। कुछ देर बाद उठे तो उन्होंने यशपाल जी को पुकारा। पहली बार उनका स्वर सुना। उसमें आत्मीयता का स्नेह था। अहं का दर्प नहीं। यह भी अच्छा लगा।

मैंने हार पर पाया कि वे बड़े सज्जन और हँसमुख हैं। बहुत बातें हुई।

सन्ध्या को घूमने निकल पड़े। हाथ में डण्डा लिए चतुर्वेदी जी बड़ी फुर्ती से चल रहे थे। गाँधी टोपी पाजामा, लम्बी कमीज और छोटे खाकी कोट में वे सचमुच घुमक्कड़ से लगते हैं। पेट के रोगी होने पर भी सदा प्रसन्न सदा जवान। (पेट के रोगी प्राय चिड़चिड़े हो जाते हैं।)

नदी किनारे पत्थरों पर उठे प्रकृति की छटा निहारते रहे। वृक्षों के बीच में से होकर नदी का घुमाव मन को बहुत भाता है। वैसे भी नदी किनारे बैठना मुझे अच्छा लगता है। भावुक और योगी दोनों के लिए ही आदर्श स्थान है।

बातों की कोई सीमा न थी। एक विषय से सहसा ही दूसरे किसी अप्रासंगिक विषय पर एक कूद जाने कि अचरज हो जाता। नविलसन में जोखिम लेने की प्रवृत्ति थी इसकी चर्चा करते करते चतुर्वेदी जी बोले, सत्यनारायण कविरत्न में भी यह प्रवृत्ति रही। अब पण्डित श्रीराम शर्मा में भी है।'

यहीं से न जाने कैसे गायों की चर्चा चल पड़ी। शायद मेरे कारण। मैं उन दिनों हिसार की सरकारी गऊशाला में काम करता था। प्रसिद्ध नसलों की बात उठी कि चतुर्वेदी जी ने बताया 'बुन्देलखण्ड की गायें तो आधा पाव दूध ही देती हैं।' मैंने कहा 'जी मध्यप्रदेश की गायें तो दूध देती ही नहीं। वे भारवहन के लिए प्रसिद्ध हैं।

शायद हँसी का ठहाका लगा होगा लेकिन उस समय हँसने का सबसे बड़ा कारण बने डा० श्रीनत। श्री कृष्णानन्द गुप्त की तारा की कितनी

पहचान है इस बात से भी काफी मनोरंजन हुआ। हिन्दी लेखकों और घुमक्कड़ दल की चर्चा करते-करते ओरछा नरेश और उनके एक अधिकारी श्री रमाकान्त शुक्ल का जिक्र आ गया। फिर महापुरुषों का बनाने वाला क्षणिक घटनाओ का वर्णन करने लगे। बुद्ध नानक रामदास दयानन्द सभी के जीवन में ऐसी घटनाएं घटित हुई हैं। थोरो 'गीता' से कितने प्रभावित थे। (थोरो चतुर्वेदी जी को बहुत प्रिय है।)

हिन्दी में अच्छे पत्रकार नहीं है इसके लिए खेद प्रगट करते हुए उन्होंने नये लेखकों को सलाह दी कि वे अधिक न लिख कर किसी एक पत्र में सुन्दर रचना प्रकाशित करवाएं।

अन्धकार घिर आया था। मार्ग ढूंढना पड़ा लेकिन बातों का क्रम फिर भी नहीं टूटा। चतुर्वेदी जी की लाइब्रेरी सुन्दर है। सवश्री एन्ड्रयूज पद्मसिंह शर्मा और श्रीधर पाठक आदि गण्यमान्य व्यक्तियों की जीवनियां लिखने का काफी मसाला है। महापुरुषों और प्रियजनों के पत्रों का संग्रह तो अद्भुत है। भारत भर में इतना सुन्दर और इतना विशाल संग्रह तो कहीं भी न होगा।

रात्रि के भोजन पर भी खूब हँसे। टूटला विश्वविद्यालय और डा० श्रीनेत गम्भीर होने ही नहीं देते थे।

तो पहला दिन इस प्रकार बीता। क्या प्रभाव पड़ा? इसकी चर्चा फिर कभी। आज तो मन मुग्ध है चित्त गदगद है। यद्यपि यशपाल जी के एक मित्र के रूप में ही उन्होंने मुझे लिया लेकिन फिर भी मैं तो था नितान्त अपरिचित ही। एक अपरिचित के प्रति इतनी सहज उन्मुक्तता गदगद ही कर सकती है।

5 जनवरी 1941। सवेरे की चाय पर प्रवचन जारी रहा। यू चाय के साथ लड्डू भी थे लेकिन मन बातों में ही रमा था। चतुर्वेदी जी बोले नये लेखक को प्रोत्साहन देना चाहिए परन्तु अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। फिर बीच में ही डा० श्रीनेत का पत्र निकाल लाए और सुनाने लगे। सन 1931 का पत्र है। बड़ी विचित्र इंगलिश में लिखा है। हर संज्ञा के साथ एक अदभुत विशेषण जुड़ा था। हँसी के मारे लोटपोट हो गए। और भी पत्र सुने। पत्रों का सचमुच अदभुत संग्रह है। किसी

महाराज से शिकायत करूँगा। हमारा आदेश था हर रसगुल्ले पर बारह मक्खियाँ उड़ें। तीन कम क्यों थीं ?

इसी तरह हँसते हँसते लोट पोट होते रहे। हँसने की यह प्रवृत्ति चतुर्वेदी जी में आज तक अक्षुण्ण है। मिलने पर खूब हँसाते हैं। पत्रों के द्वारा भी खूब हँसाते हैं और उसके लिए कर भी वसूल करते हैं।

उस दिन वे मेरे घर पधारे थे। कमरे में रहीम का एक दोहा टँगा था—

रहिमन पानी राखिये
बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे
मोती मानस चून।।

तुरंत बोले, रहीम आज होते तो इसे यूँ लिखते—

रहिमन पानी राखिये
भलीभाँति उबलाय।
बिन उबले कैसे बने,
ठकुरसुहाती चाय।।

दूसरा दिन भी बीत गया। क्या ये दिन अमर नहीं हो सकते ? लेकिन मैं तीसरे दिन की चर्चा करूँ।

6 जनवरी, 1941 । आज कुहरा पड़ रहा था। हवा भी थी। वन से लौट कर चतुर्वेदी जी के पास जा बैठे। बस लगभग 10 बजे तक प्रवचन ही होता रहा। आरम्भ हुआ था धारा के एक वाक्य से किसी से प्रेम करो और फिर रिपोर्ट करो। यहाँ से आरम्भ होकर बात साधना और तप तक जा पहुँची। कई व्यक्तियों का जिक्र आया, लेकिन श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के जीवन का वर्णन चतुर्वेदी जी ने जिस मार्मिक ढंग से किया वैसा शायद किसी और का नहीं कर सके। उनकी दान शीलता, काम करने की क्षमता, सादगी, स्पष्टवादिता और पुराने शील की बातें, गुस्ताख को कटवा देना, किसी के घर जाने पर खाली हाथ न जाने की रीति—कोई अन्त नहीं था उनके गुणों का।

स्वामी रामतीर्थ को जीवन के अन्त में संस्कृत सीखने का मोह हो

आया था। माइकेलेंजेलो विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकार हुआ है। उसने एक मूर्ति बनाई थी। किसी ने उसे देखा और कहा, 'यह नंगी है और अश्लील है।'

मूर्तिकार ने उत्तर दिया 'पहले अपनी आंखों की अश्लीलता दूर करो'।

इस तरह की न जाने कितनी बातें वे कहते रहे। आज जाने का कार्यक्रम था लेकिन उन्होंने कहा 'आज नहीं कल जाना। शायद जैनेन्द्र जी भी आने वाले हैं।

जाना स्थगित कर दिया परन्तु जैनेन्द्र जी नहीं आए। भोजन आराम बाग में जाकर फल बगारना और फिर घूमना। आज यशपाल द्वीप देखने गए। यहां का वन प्रान्त भयानक है। डर लगता है। लौटकर पता लगा कि पास में ही तेंदुआ आ गया है। कल एक बछड़े को उठा ले गया था। आज इसी प्रसंग को लेकर हँसी मजाक होता रहा। लेकिन कल तो चले जाना है।

7 जनवरी 1941। कल तेंदुए की चर्चा हुई थी। वह बछड़े को उठा ले गया था। हम लोगों ने निश्चय किया कि उसके स्थान का पता लगाया जाए। हम दौड़े और लाठियां उठाकर चल पड़े। बहुत दूर तक बातें करते हुए वन के भीतर घुसते चले गए। मिला कुछ नहीं। दिन में कहीं तेंदुआ मिलता है? जहां ले जाकर उसने बछड़े को खाया था वह स्थान हम अवश्य देख सके। उस वन प्रान्त में अकेले जाने में डर न लगता हो सो बात नहीं। पर इस दुस्साहस में मन को आनन्द मिला। इस बार तेंदुआ नहीं दिखा लेकिन लगभग आठ वर्ष बाद जब मैं दूसरी बार टीकमगढ़ गया तो एक संध्या को इसी प्रकार भ्रमण करते हुए जंगली सूअर के दर्शन अवश्य किए। अंधकार घिर आया था। हम लोग सड़क के किनारे-किनारे चले जा रहे थे। उस ओर से बैलगाड़ी आ रही थी कि सहसा हमारी बाईं ओर से वन के भीतर से एक पशु तीर की तरह सीधा उछला और दाहिनी ओर के वन में गायब हो गया। हम उस समय चौंक उठे और बाद में चिल्लाकर कहा 'जंगली सूअर, जंगली सूअर।'

सहसा डर भी लगा और खुशी भी हुई कि जंगली सूअर आया और चला गया। हम लोग सही सलामत बच रहे। चतुर्वेदी जी में जोखिम उठाकर घूमने की यह प्रवृत्ति सदा रही है। शायद यही उनको सदा मन से युवक बनाए रखती है।

आज दोपहर बाद जाना था। हमने का नम पूर्ववत चलता रहा लेकिन चतुर्वेदी जी साथ ही साथ हमारे लिए चिट्ठियां लिखते रहे अखबार और लीफलेट इकट्ठे करते रहे और इस प्रकार चार दिन का वह कुण्डेश्वर प्रवास पूरा हो गया।

पूर्व राग के इन क्षणों में क्या पाया यह आज अट्ठाइस उनतीस वर्ष बाद भी ठीक प्रकार से नहीं बता सकूंगा। इन वर्षों में और भी पास आने के अवसर मिले। पास आने पर ऐसा कुछ भी दिखाई देता है जो देखने को मन नहीं करता। मतभेद भी होते हैं लेकिन जब जब भी दृष्टि उठाकर उन्हें मूलकाल में झांकता हूं तो मन को गदगद ही पाता हूं। घर लौटकर उनको एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ लिखा उसी की चर्चा करके पूर्व राग की इस कहानी को समाप्त करूंगा। 16 जनवरी 1941 का वह पत्र मेरे नाम चतुर्वेदी जी का पहला पत्र है। पत्र अंग्रेजी में है। उन्होंने लिखा—

'तुम अद्भुत व्यक्ति हो। मुझ में एक साथ प्रेम सहानुभूति और सद्भावना कैसे पा सके? पहला गुण तो मुझ में जरा भी नहीं है। दूसरे को मैं मात्र तरल भावुकता समझता हूं और तीसरा गुण है केवल शिष्टाचार। जो मैं अब तक नहीं पा सका लेकिन पाना चाहता हूं वह है विनम्रता। जो हमसे सबसे साधारण है उसके व्यक्तित्व के प्रति आदर और उसके साथ ही हमारा के दोषों के प्रति उदारता।

प्रत्येक अतिथि वरदान स्वरूप है वरदानों का दाता। इसलिए तुम्हारे आगमन से मुझे प्रसन्नता ही हुई। राज्य के ज्योतिषि के अनुसार मुझे अभी 27 वर्ष और जीना है। इसलिए 54 बार मैं तुम्हारा आतिथ्य कर ही सकता हूं। जब मन करे अवश्य आओ। तुम्हारा ऐसा ही स्वागत होगा।

'छोट भाई को मेरा आशीर्वाद। जिनसे इस यात्रा म मिले हो उनसे सबध बनाए रखो।

चीते (तेंदुए) के बारे म फिर कुछ नहीं सुना। हम लोग दूर तक साध्य भ्रमण क लिए जाते हैं। और स्वास्थ्य हमारा अच्छा है।

अपनी साहित्यिक गतिविधियो के बारे म सूचना देत रहो। और बताओ कि क्या मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हू? ज्येष्ठ होने क कारण भी मेरा यह कर्तव्य है कि तुम्हारे जैसे नवयुवक मित्रों की सहायता करू। वास्तव म मेरे नवयुवक रहने का यही रहस्य है। प्रणाम।

इस पत्र के साथ अपने प्रिय लेखक धारा की एक उक्ति भेजना वह नहीं भूले।

मनुष्य मात्र के लिए किसी भी रूप म यदि मनुष्य कुछ कह सकता या कर सकता है तो यही है कि वह अपने प्यार की कहानी कहता रहे गाता रहे। और अगर वह सौभाग्यशाली है और जीवित रहता है तो वह सदा प्रेममय ही रहेगा।

तो चतुर्वेदी जी के प्रेम की वह कहानी ही मैंने कही है। उनका आलोचक होने का दुस्साहस मैं नहीं कर सकता। यही कामना करता हू कि अपने पत्रो द्वारा व इसी अलभ्य प्रेम को वपा करते रहें

पाण्डेय वचन शर्मा उग्र'

उम दिन चिता पर रखे हुए उनके पार्थिव शरीर का अ तिम प्रणाम किया
ता सहसा विश्वास नही आया कि वे अव फिर नहीं दोलेंगे। एसा लगा
कि जस सो रहे हो। कुछ क्षण मे उठ वठेंगे और अपनी उग्र भाषा म
भाषण देना आरम्भ कर देंगे। उग्रजी का व्यक्तित्व असामा य था। वह
कभी भी भीड म एक वनकर नहीं रहे। उनके अतमन म कुछ एसी ग्रथियां
थी जो उन्हे सदा उद्वेलित और असयत वनाए रखती थी। यदि वे लीक
पर चलते ता उग्र कम होते ?

उनम मिलने म पूव मैं उनकी प्रतिभा का कायल हो चुका था। तव
शायद विद्यार्थी ही रहा हूगा। दिल्ली की मारवाडी लाइब्रेरी म 'चन्द
हसीनो क खतूत' पन्ने वठा तो पढकर ही उठा। पुस्तक वस्त वडी नहीं
है पर तु उसकी भाषा उसकी शली और उसके दद न मेरे किशोर मन
को अभिभूत कर दिया। आज भी याद है कि मैं कई दिन तक भरा भरा
रहा था। कई व्यक्तियो म उसकी चर्चा की थी। इस क्षण उसके शब्द
मुझे याद नही हैं, लेकिन विभोरता की वह स्थिति आज भी अतमन पर
अंकित है।

कई वष वाद जनवरी 1941 म घूमता घामता मैं इन्दौर जा निकला।
तव तक लिखन लगा था और उन दिन' इन्दौर म प्रकाशित होन वाली
वीणा हिन्दी के तत्कालीन मासिको म प्रमु . . . थी। मेरी कई
कहानियां उसम प्रकाशित हो चुकी थीं . . . प्रेम-
कुसमाकर' उमके सम्पादक थ। मैं उनन . . .

म गया। वहा किसी व्यक्ति न मुझे बताया भाभिन जी तो आज नहीं आएग। उग्रजी यही पर हैं उनस मिल लो।'

मैं प्रफुल्ल हो उठा 'अच्छा। उग्रजी यहा पर ह।

वह बोल जी हा। वह पीछे क कमरे म ठहर हुए है।

मैं सहसा साहस नहीं जटोर सका और जब उनकी ओर चला तब भी शरीर म कपन था। दखा कि समिति क विशाल प्रागण म एक अपेक्षा कृत ठिगन कद का व्यक्ति सहमत लगाए जोर जोर स माली स कुछ कह रहा है। बाल उसक कुछ लम्बे हैं और उसने अपन दोना हाथ पीठ पर बाध हुए ह। बार बार एक हाथ को तजी स आग बढाता है और क्यारी की ओर इशारा करक माली स कुछ कहता है।

डरत डरत पास पहुचकर मैंन नमस्त की। उन्होंन सहसा वदन उठा कर मेरी ओर देखा। मुख पर आवश था आखें चढी हुई थी। कुछ तलखी स पूछा 'तुम कौन हो?'

मैंन झिझकत हुए अपना परिचय दिया। कहा—' अभी सुना है कि आप यहा ठहरे हैं इसलिए दशन करन चला आया हू।

उन्होंने कहर भरी दष्टि स मरी ओर देखा और तीव्र स्वर म कहा, 'किस हरामजादे उल्लू क पटठ न तुमस कहा कि मैं हरामजादा उल्लू का पटठा यहा ठहरा हू।

सुनकर मेरी क्या दशा हुई इसकी कल्पना ही की जा सकती है। घोर आयसमाजी, सदाचार का उपासक और नौसिखिया लेखक, कुछ सूझ न पडा कि क्या कहू क्या न कहू। उन्होंन मानो मेरी स्थिति को भाप लिया। मन ही मन मुस्कराय भी होग। बोल ' अच्छा तो तुम वही विष्णु हो जो कहानिया लिखता है।'

'जी हा।'

'लिखत रहो, ठीक है।'

और फिर दो चार भारी भरकम गालिया देकर माली की ओर मुखातिब हो गए। और मैं जान बचाकर वहा स भागा। उनकी प्रतिभा का मैं तब भी कायल था, लकिन मैं उनकी भाषा स सहमत नहीं हो सका। और मुझे लगा कि इस व्यक्ति के अन्दर कुछ टूट गया है। और वह टूटन

हम बाट रही है। वह उस जेल नगी पर रही। गालिया उसी नपुसक ग्राध का प्रतीक हैं। आज भी मरी यही मान्यता है। उनकी भाषा म जितना गाप आक्रोश था और वाणी म जितनी उग्रता और अभद्रता थी अन्तर म वह उतन ही दुबल थ। और उस दुबलता का छिपान क लिए आग की चादी चढ़ात रहत थ। शीश पर चादी चढ़ जाती है तो वह दपण बन जाता है। लकिन उस दपण म आत्मा अपन का ही देखता है। और जसा दखना चाहता है वसा ही दखता ह। असली रूप का नहा दख पाता।

उसक बाद उनका ग्रथ पढ़ा। उनक बार म जाना उनस मिला। प्रशसा और निदा दोना ही उनम पाइ। लेकिन अपनी राय बदलन का अवसर नहा पाया। हमशा यही लगा कि इस व्यक्ति को पारखिया न पहचानन म गलती की है। और प्रतिक्रियास्वरूप इसन अपनी उप स्थिति का अनुभव करान के लिए इस अनगढ़ उग्रता को ओढ लिया है।

उनको लेकर घासलटी साहित्य क विरुद्ध एक आदोलन चला। तत्कालीन समाज की जो स्थिति थी और आयसमाज का घोर ब्रह्मचय वाला जो अतिसयमी आचरण तत्कालीन प्रबुद्ध मानस का ग्रस हुए था उसम उग्र जस व्यक्तियो को कोई कस समझ सकता था। बडे उग्र रूप म उन्होन समाज पर चोट की और नग्नता को कला के झीन आवरण स ढकन का प्रयत्न नही किया। बहुत वर्षों बाद चाकलेट क फिर स प्रकाशन हुआ। उन कहानियो का पढ़कर मैं उस पुरान आदोलन स सहमत नही हो सका। निश्चय ही व शिल्प की दृष्टि स सुदर रचनाए नहा था। लकिन उनका उद्देश्य अश्लीलता का प्रचार करना भी नहीं था। उस पुस्तक की रिव्यू करत हुए मैंन ये दोना बातें लिखी। न जान उग्र जी का कस पता लग गया कि यह सब म न लिखा है। अचानक एक दिन कनाट सकस म उनस भेंट हो गई। बिना किसी भूमिका क मरी ओर बडी गम्भीरता स दखत हुए उन्होन कहा तुमने बडी सतुलित आलाचना की है। ठीक हा लिखा है।

मैं जानता हू वह बहुत प्रसन्न नहा थ। लकिन इन शब्दा न मरी उस धारणा को और भी पुष्ट किया कि इस आदमी को किसी न समझन का प्रयत्न नही किया और यह भी कि यह व्यक्ति समझे जाने की अपक्षा

व्यक्ता है। हर व्यक्ति रखना है। लेकिन कुछ हैं कि उपेक्षा पाकर अपेक्षा की चिंता नहीं करते और कुछ होते हैं कि उनके भीतर तीव्र प्रतिक्रिया होती है। तीव्र प्रतिक्रिया सदा ताड़ती है।

उग्रजी का न्याय करने की क्षमता और उनकी अनाखी शैली का विवेचन करने का यह अवसर नहीं है। मेरा ध्यान उनके व्यक्तित्व पर हो जाता है। उनकी भाषा को न सह पाकर भी उनके उग्र अहम और गतिमय व्यक्तित्व ने सदा मुझे प्रभावित किया। नवम्बर 1949 में मैं मिर्जापुर गया था। उन दिनों उग्रजी वहां रहते थे। अपने अग्रज के साथ मैं उनसे मिलने पहुंचा। 9 वर्ष बाद मैं उनसे मिल रहा था। तब का वह मिलना भी क्षणिक हो था। लेकिन वह तुरन्त पहचान गए और बड़े स्नेह के साथ स्वागत किया। बैठने के लिए कुर्सियां उठाकर लाये। खूब संस्मरण सुनाये। भोजन के लिए निमंत्रण दिया। कहा, 'मैं तुम्हें पकवान नहीं खिला सकता। प्रेम के साथ ज्वार-बाजरे की रोटी खानी है तो स्वागत है।

उनका वह स्नेह भरा निमंत्रण स्वीकार करके हम खुशी होते लेकिन चूंकि हम आगे जाना था इसलिए उस सौभाग्य से वंचित रह गए। पर बातों में बड़ा आनन्द आया। तत्कालीन साहित्य और साहित्य के तथा कथित नेताओं को लेकर उन्होंने जो कुछ भी कहा वह रंचमात्र भी असंगत नहीं था। सरीव था। मुझे ऐसा लगा जैसे वे अब कुछ गम्भीर हो गए हैं। नव बुद्धि को कुछ स्थायित्व मिल गया है। गालियां भी कम हो गई हैं। कहीं थक तो नहीं गए। लेकिन फिर जीवन के संस्मरण सुनाते हुए जब उन्होंने प्रसिद्ध अभिनेत्री श्रीमती दुर्गा खोटे की चर्चा की और बताया कि उनसे एक दिन मुंह में सेट पर ही एक सम्बोधन बदलने के लिए कहा। वह चाहती थीं कि अमुक व्यक्ति को उसमें प्रिय न कहलवाया जाए। उस समय उग्रजी अपनी चिरपरिचित आवरणहीन उग्र भाषा का प्रयोग करने लगे। श्रीमती दुर्गा खोटे और अपने लिए उन्होंने नामों का प्रयोग किया न सर्वनाम का। विशुद्ध पुल्लिंग और स्त्रीलिंग पर आ गए।

मैं तब तक आर्यसमाज के अतिसंयमी प्रभाव से काफी मुक्त हो चुका था। लेकिन फिर भी अग्रज की उपस्थिति में एक और अग्रज के मुख से इस प्रकार की भाषा सुनकर सकपका गया। लेकिन न वह भाषा न

बोलें तो उन्हें पहचान कौन ?

कई वर्ष बाद वे दिल्ली आकर रहने लगे। तब उनसे यदा-कदा मिलना होता था। कनाट सर्कस के बरामदों में बहुत बार उनके साथ सैर की है। मित्रों और अंग्रेजों के प्रति उनके आक्रोश को भद्दी भद्दी गालियों में व्यक्त होते हुए देखा है। मुझे देखते ही वह छींटाकशी करने से नहीं चूकते थे। जैसे एक दिन बोले, क्या यह छिले हुए आलू जैसा चिकना चिकना सिर लिए हुए घूम रहे हो।

एक बार तो मुझसे रुष्ट होकर उन्होंने अप्रसन्न होते हुए कितना तीव्र भर्त्सना का पत्र लिख भेजा। मई 1957 में भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी मनाई गई थी। उस अवसर पर आकाशवाणी से अनेक रूपक प्रसारित हुए थे। सबसे पहला रूपक मैंने ही लिखा था। उसका बहुत सीमित क्षेत्र था। मुझे उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना था। सामग्री बहुत कम उपलब्ध थी। और फिर वह एक डाकूमेण्ट्री रूपक ही तो था। संयोगवश वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भी छपा। उग्रजी ने उसे पढ़ते ही तुरन्त मुझे वह भयानक पत्र लिखा। साथ ही साथ सम्पादक को भी खरी खोटी सुनाई। उसका सम्बोधन इस प्रकार था, 'देखा जी महाशय विष्णु प्रभाकर।' और अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किये थे — वही उग्र (चवन्निया पाठक)।

पत्र में मेरे नाम के साथ एक 'श्री' के स्थान पर दस बार श्री लिखा था। मैं जानता था कि वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँके बिहारी भटनागर से अप्रसन्न हैं। शायद मेरे द्वारा की गई चाकलेट की आलोचना से भी वह अप्रसन्न हुए हों, अन्यथा रेडियो के आदेश पर लिखा गया वह रूपक इस योग्य नहीं था कि उसकी चर्चा की जाती। फिर भी मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें पत्र लिखा। परन्तु न तो उन्होंने उसका कोई उत्तर दिया, न मिलने पर ही इस बात की चर्चा की। उसी तरह मुक्त भाव से मिलते रहे। एक बार मैंने उनसे कहा, 'उग्रजी, कृपया आप एक बार मेरे गरीबखाने पर भोजन करने पधारिये।'

तब वह पान की दूकान पर पान खा रहे थे। एक पान मेरी ओर भी बढ़ाया। बोले, 'सोच लिया है ?'

मैंने कहा, 'इसमें सोचने की क्या बात है? आप अग्रज हैं, आपको आना चाहिए।

वह मुस्कराए। केवल इतना ही कहा 'ठीक है अच्छा।'

लेकिन सहसा दूसरे व्यक्ति की ओर देखकर उन्होंने कहा 'हम बन्ते से लोग घर पर बुलाते हुए डरते हैं।''

उस व्यक्ति ने पूछा 'क्यों?'

तलखी से बोले 'साला के घर में जवान लड़कियाँ, बहुएँ जो होती हैं।

मैं स्वीकार करूँगा कि मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा। लेकिन उग्र जी तो उग्रजी थे। उनका अप्रतिभ होते मैंने एक ही बार देखा। आकाशवाणी पर कवि सम्मेलन था। दिल्ली के सभी प्रमुख साहित्यकार निमंत्रित थे। उग्रजी थे दद्दा मैथिलीशरण गुप्त भी थे। सम्मेलन समाप्त होने पर अपने स्वभाव के अनुसार दद्दा सबसे मिलते घूम रहे थे। मैंने कहा, दद्दा उग्रजी भी आए हैं।

दद्दा तुरन्त यह कहते हुए 'कहाँ हैं?' उनकी ओर लपके और उन्हें सामने पाकर बड़े स्नेह से उनसे बातें करने लगे। कुशल समाचार पूछा और बोले 'कभी गरीबखाने पर जूठन गिराने आइए न?'

उग्रजी ने क्या जवाब दिया था ठीक शब्द याद नहीं है। निश्चय ही वह समुचित उत्तर था। लेकिन चलते चलते एकाएक दद्दा बोले 'महाराजजी आपने अपनी प्रतिभा का बड़ा दुरुपयोग किया है।

उग्रजी हतप्रभ से देखते ही रह गए और दद्दा आगे बढ़ गए। यद्यपि इस स्पष्टता के पीछे स्नेह ही था, फिर भी इसके दंश में कचोट तो थी ही पर उग्रजी एक शब्द नहीं बोले। शायद दद्दा के प्रति आदर के कारण शायद स्थिति की आकस्मिकता के कारण।

अंतिम बार मैं उनसे जयपुर में मिला था। तब उन्हें पहली बार दिल का दौरा पड़कर ही चुका था। एक छोटे से कमरे में वे लेटे थे। आसपास कई मित्र थे। उन्हें देखकर यह नहीं लगता था कि वह अस्वस्थ हैं। वैसा ही जीवन वही मुस्कान। मुझे देखकर वह उठ बैठे और काफी देर तक बड़े स्नेह से बातें करते रहे। स्नेह उनमें निश्चय ही था परन्तु

उनका न्यग्य विद्रूप वाला रूप इतना उभरकर सामने आता था कि नप सब कुछ उसमे छिपकर रह जाता था। वह मानो प्रतिक्षण वदा त लने की भावना स प्रेरित रहत थे। *उनके साहित्य की शक्ति बशक व्यग्य पर* आधारित थी लेकिन उनम और भी गुण थे। वह तीव्र समाज सुधारक और खरे दशभक्त थे। विस्तार क बावजूद शलीकार क रूप म वह सदा जीवित रहगे। च द हसीनो के खतूत महात्मा इसा बुधवा की बेटी और अपनी खबर जसा उनकी रचनाए उनकी प्रतिभा का जयघोष करती रहेंगी। उसकी मा जसी उनकी कहानिया उनके उस रूप को उजागर करती हैं जिसकी ओर हमारा ध्यान नही गया है।

वस्तुत उनका व्यक्तित्व अदभुत मनोग्रथियो का समूह था। *उन्होन जिस स्नेह समादर की अपेक्षा की वह उ ह न तो जीवन म मिला* न साहित्य म। वह जीवन भर अविवाहित रह पर उस स्थिति का सह नहा पाय। वह उन आक्रमणा की उपेक्षा भी नही कर सक जो उन पर हुए। अ तर म टूट जान पर भी अपनी उपस्थिति का अनुभव कराने का कोई अवसर वह नही चूके। इसालिए उनका व्यग्य-दश अत्य त विपला और किसी सीमा तक दिशाहीन भी हो उठता था। लकिन जस झाग के नीचे शुद्ध सलिल वहता है उसी तरह उनके इस अनगढ अनियत्रित जीवन के पीछे एक सशक्त लखक एक देशभक्त और एक स्नेही मनुष्य का हृदय भी छलकता था। *उन्होन नये सिरे स फिर लेखनी उठाई था।* पर काल भगवान अचानक ही उन्हें हमारे बीच स उठा ले गए। लकिन साहित्य क इतिहास म वे सदा जीवित रहग।

श्री सुदर्शन

जैसे ही सुदर्शन शब्द मस्तिष्क पर अंकित होता है, मुझे हिमालय के ढलानों पर उगे हुए चीड़ के वृक्षों की याद आ जाती है। वही सुदीर्घ देह यष्टि वही तन मन को प्राणवायु से पुलकित कर देने वाला वातावरण। जहां वे होते उन्मुक्त अट्टहास वातावरण को आलोडित कर देता और मरघट की खामोशी महफिल की रंगीनी में तबदील हो जाती। न जाने कितने चुटकुले उन्हें याद आते रहते। न भी आते तो हर बात को चुटकुले के अन्दाज में कहते और तब बरबस ही सब हँस पड़ते। जब वे गंभीर भी होते तो उनके बोलने का ढंग इतना प्रभावशाली रहता कि सभी मंत्र मुग्ध हो उठते। मधुप की कड़वाहट उनके मजलिसी मानस को कभी परा भूत नहीं कर सकी, बल्कि वही तो उनकी सहज उन्मुक्तता का कारण बनी।

हिंदी साहित्य सम्मेलन के वाराणसी अधिवेशन में उनको पहली बार देखा था। वे कहानी सम्मेलन के अध्यक्ष बनकर आए थे। स्वागताध्यक्षा थीं श्रीमती शिवरानी देवी। सुदर्शन और प्रेमचंद दोनों अभिन्न मित्र थे। सुदर्शन उर्दू के चंदन के सम्पादक थे और प्रेमचंद हिन्दी के हंस के। दोनों एक-दूसरे की कहानियों का अनुवाद एक-दूसरे के पत्रों में छापा करते थे और जब कभी एक साथ बैठने का अवसर मिलता तो अपने उन्मुक्त अट्टहास से आसपास के वातावरण को खुशियों से भर देते।

उस दिन मैं श्रीमती शिवरानी देवीजी के पास बैठा था कि देखता हूं अनेक व्यक्ति यहां प्रवेश करते हैं। उनमें सबसे आगे है इकहरे बदन का

एक लम्बा पुरुष। हाथ में छड़ी, नंगा सिर, बड़े फ्रेम के चश्मे के पीछे से झांकती मर्मभेदी आँखें और लम्बे चेहरे पर आकर्षक मुसकान। श्रीपतराय ने बताया कि ये श्री सुदर्शन हैं। क्षण भर में प्रांगण कहकहों से भर उठा मानो ज़िंदगी छलक उठी। बम्बई में दिल्ली में—जब भी देखा वही रूप वही रंग। दूरी रखना तो जैसे वे जानते ही नहीं थे।

उनका जन्म 1896 ई० में स्यालकोट में हुआ था। कहा करते थे कि मेरे जन्म का वर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी वर्ष चंद्रकांता-संतति का प्रकाशन हुआ था। उनके पिता मध्यवित्त परिवार के कर्मकांडी ब्राह्मण थे परन्तु वे हुए क्रांतिकारी आर्यसमाजी। उस युग में आर्यसमाज सच मुच एक क्रांतिकारी संस्था थी।

उनके बोलने का ढंग इतना आत्मीय और आकर्षक होता था कि अनेक युवक इसी कारण आर्यसमाज की ओर खिंच जाते थे।

उनकी मातृभाषा पंजाबी थी। लिखना उन्होंने उर्दू में शुरू किया। और प्रेमचंद के समान शीघ्र ही हिंदी के क्षेत्र में आ गए। जब वे आठवीं कक्षा में पढ़ते थे तब उन्होंने एक कहानी लिखी थी और लाहौर से छपने वाले एक उर्दू रिसाले में भेज दी थी। कई महीने बाद वह कहानी छपी। तब तक वे उसे भूल चुके थे। एकाएक एक दिन उनके हेडमास्टर ने प्रार्थना के बाद सारे स्कूल के सामने उन्हें पुकारा 'आठवीं क्लास का विद्यार्थी बद्रीनाथ यहां आ जाए।

सुदर्शन जी का वास्तविक नाम बद्रीनाथ ही था। डरते डरते बालक बद्रीनाथ हेडमास्टर के पास पहुंचा पर वे तो क्रुद्ध होने के स्थान पर उसके सिर पर हाथ फेरकर बोले शाबाश बद्रीनाथ तुमने अपने स्कूल का नाम रोशन किया है।

इतना कहकर उन्होंने उस रिसाले में छपी उनकी कहानी का पूरा पढ़ा सम्पादक का वह नोट भी पढ़ा जिसमें उसने बालक बद्रीनाथ की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि एक दिन उर्दू साहित्य में इसका नाम चमकेगा।

उनके हिंदी में आने की कहानी बड़ी रोचक है। वे उर्दू जानते थे लेकिन उनकी पत्नी जानती थीं हिंदी। वे कन्या महाविद्यालय जालंधर

की स्नातिका थी। उनका प्रेम-पत्र केवल हिंदी में ही लिखा जा सकता था। बस इसी प्रयत्न में वे हिंदी के लेखक बन गए। हिंदी में उनकी पहली कहानी 1920 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। यह वह युग था जब हिंदी कहानी जन्म ले रही थी। उन्हीं के शब्दों में—'उस युग में लेखक का ध्यान उपदेश, जादू और काव्य कल्पना से हटकर घर और जीवन की ओर जा रहा था। एक युग था जब रात को बच्चे घर के आंगन में बैठकर कहानियां कहते थे। बुड्ढे आग तापते थे और जंगली जीव जंतुओं की कहानियां कहते थे। उनमें लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियों से भरी पड़ी हैं। इसके बाद दूसरा युग जादू का युग आया। लोग अदभुत और चमत्कार की कहानियां मांगने लगे। ये कहानियां पाठक को चकित कर देती। परंतु कहानी की समाप्ति पर वह अनुभव करता कि उसने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है। अनहोनी बातें पढ़ी हैं। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ। प्रेम और रूप की कहानियां शुरू हुईं। उनमें काव्य, कला, कल्पना—सबसे बढ़कर मानव हृदय और मानव मन की व्याख्या है।

इसके बाद कहानी का नया युग शुरू हुआ। वर्तमान समय का सर्वश्रेष्ठ गल्पलेखक वह है जो जीवन का और घर के अंदर का चित्र खींच कर रख दे। वह केवल बाहर का कहानी लेखक नहीं है। वह घर का, दिल का और अंदर का कहानी लेखक भी है।'

आज कहानी इससे भी बहुत आगे बढ़ गई है। साठोत्तरी पीढ़ी का लेखक उनकी कहानियां पढ़कर हंस ही सकता है। लेकिन उस समय उसको तिलिस्म के चक्रव्यूह से निकाल कर मनुष्य के संसार में उसका संबंध स्थापित करने में जो परिश्रम उन लोगों को करना पड़ा था उसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। प्रेमचंद के समान सुदर्शन ने भी सामाजिक जीवन को महत्त्व दिया लेकिन पुराण और इतिहास को भुलाया नहीं। तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण की प्रगतिशील धारा के अनुरूप ही पुराण कथाओं का अंकन किया, अर्थात उनमें जो सुंदर था उसको नए अर्थ देकर ग्रहण किया। लेकिन जहां उन्होंने धर्म और संस्कार की प्रबलता के कारण जीवन के इस सत्य को झुठलाने का प्रयत्न किया, वहां दूसरी ओर रूढ़ियों और अंधविश्वासों की जड़ों पर प्रहार करने से

भी व नही चूके। और व मात्र साहित्य म ही प्रहार करक नहीं रह गए, अपने जीवन म भी उन्हान रूढ़िया और अधविश्वासा स लाहा लिया। विवाह के पश्चात निश्चय हुआ कि उनके घर म परदा नही रहगा लकिन जिस समय श्रीमती सुदशन घर के बडे बूढ़ा के सामन खुले मुह आइ तो जम तूफान आ गया। उन्हान उसी समय घर छोड दन का निश्चय कर लिया परन्तु झुकना स्वीकार नहीं किया। यही उनके सघषमय जीवन का आरम्भ था। यही सघष उनके साहित्य म भी प्रतिबिंबित हुआ। उनक सामन एक आदश था जीवन का उदात्त बनान का। इसी दष्टि स किसी न किसी आदशवादिता के आधार पर उन्हान अपनी कथाआ का ताना-बाना बुना। उनकी प्रसिद्ध कहानी हार की जीत म एक वाक्य आता है— लोगो को यदि इस घटना का पता चल गया तो व किसी गरीब का विश्वास नहीं करेंगे। दुनिया म विश्वास उठ जाएगा। इसी आदश वादिता के आधार पर उन्हान इस कहानी म बाबा भारती और डाकू क चिन्नतथा घटनाआ की कल्पना की है और अपनी सहज सग्न बामुहावरा भाषा म उन्हें चित्रित किया है। उनकी कहानियो म नतिक मूल्या क आदश उभरे हैं लेकिन उन्होन उनका यथाशक्ति कलात्मक रूप दने का प्रयत्न किया है। वह युग ही हृदय परिवतन का था परन्तु वे नग्न यथाथ को भल ही गए हो ऐसी बात नहीं। 'घोर पाप जसी कहानिया इसका प्रमाण हैं।

उनकी वातावरण प्रधान कहानियो म 'प्रसाद का कवित्व नही है यथाथ की गरिमा है। मनोविश्लषण भी नही है क्योंकि मानव मन क अधकूपा म पहुचन का माग उस युग म खोजा नही जा सकता था। व उदू स हिंदी म आए थे। इसलिए उनकी भाषा सरल और चुभती हुई है। उसम उदू की रवानी है और उसके मुहावरा का सफल प्रयोग भी। कमल की बेटी ससार की सबस बडी कहानी हार की जीत 'एथेंस का सत्यार्थी कवि की पत्नी पत्थरो का सौदागर और न्यायमत्री आदि उनकी कुछ कहानिया किसी न किसी समय लोकप्रिय रही है। उनकी अपनी दष्टि मे उनकी सवश्रष्ठ कहानी है 'बाप का हृदय।

उपन्यास के क्षत्र म उनकी प्रतिभा विशेष विकसित नहीं हुई। लकिन

नाटक के क्षेत्र म, विशेषकर सिने-नाटक के क्षेत्र मे, वे बहुत लोकप्रिय हुए। इन नाटकों म 'अजना सिकदर और भाग्यचक्र' उल्लेखनीय हैं। भाग्यचक्र के आधार पर सुप्रसिद्ध फिल्म डायरेक्टर बरुआ ने बगला म चलचित्र बनाया था। यह पहला चलचित्र था जिसे किसी बगाली निर्देशक ने हिंदी कथा के आधार पर बनाया। बगाली इससे बहुत अप्रसन्न हुए। उन्होंने पत्रों म इसके विरुद्ध आन्दोलन भी किया।

भाग्यचक्र हिंदी मे धूप छाव के नाम स निर्मित हुई थी। स्वाधीनता सग्राम की पृष्ठभूमि पर रचित 'सिकदर उनकी एक और सशक्त रचना है। इसके आधार पर बना चलचित्र भी अत्यत लोकप्रिय हुआ। 'पृथ्वी-वल्लभ, पडोसी पत्थरों का सौदागर, परख और कुन्दन उनके अनेक चलचित्रों म स कुछ हैं जो लोकप्रिय हुए हैं।

बाल और किशोरोपयोगी साहित्य लिखने म भी उन्होंने काफी रुचि दिखाई। अनुवाद भी किए लेकिन गोष्ठी कथा कहने म उनकी तुलना शरतचद्र चट्टोपाध्याय स ही की जा सकती है। उनकी कल्पना शक्ति अद्भुत थी। एस बोलत थे मानो आंखों-देखी घटना का वर्णन कर रहे हो। काश सुदर्शन की ऐसी कथाओं का सकलन हुआ होता ! टलीविजन पर उनका यह रूप देखकर ही लोग मुग्ध हो उठे थे। शरतचद्र की तरह सुदर्शन को भी बच्चों पर रखने का शौक था। बच्चों के बीच बठकर वे कहानियां और कविताएं सुना-सुनाकर इतना हँसाते थे कि बच्चे हटने का नाम नहीं लेते थे।

उन्होंने जीवन भर सघर्ष किया। स्यालकोट म जन्म लेकर सुदूर बम्बई म जाकर बसे। बीच म कहां-कहां नहीं घूमे, क्या-क्या नहीं किया ! बसी सती और लाचारी म दिन बिताए ! वैभव के रूप म प्रसिद्ध हो जाने पर भी आर्थिक अवस्था दिन पर दिन गिरती ही गई। लेकिन उन्होंने किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया।

घर म खाने के लिए कुछ भी नहीं है। वे उदास हैं। तभी धनी मित्र आते हैं। कोई थियेटर-कम्पनी शहर मे आई हैं— आज हम सब लोग नाटक देखने के लिए चलेंगे लिए हैं।

सुदशन जी इनकार कर देते हैं लेकिन व मित्र नहीं मानते। कहते हैं— आप नहीं जाएगे तो कोई नहीं जाएगा। मैं इन टिकटो का नला दूगा।'

उनकी पत्नी किसी तरह यह सुनकर उन्हे भेज देती हैं। थिएटर म पहुचते ही वे सब-कुछ भूल कर हँसी मजाक मे डूब जाते हैं। मध्यान्तर आता है। मित्र पूरी और मिठाइ मगवाते हैं। पडितजी उद्विग्न हो उठते है— मैं लडडू पूरी खाऊगा। घर पर पत्नी और बच्चे बिलबिला रहे हैं

किसी तरह नाटक खत्म होता है। घर आकर पत्नी से कहते हैं अच्छा हुआ तुमने मुझे नाटक देखने भेज दिया। खूब लडडू पूरिया खाकर आया ह।

पत्नी हँस कर उलाहना देती है अकेले अकेले खा आए।

जी नहीं पडितजी जेब म हाथ डालते है और लडडू निकाल कर कहते हैं ये आपके लिए चुपचाप जेब म डाल लिए थे।

पत्नी मुसकराकर कहती है तो आप चोरी भी करने लगे।

पडितजी उत्तर देते है अगर मैं चोरी न करता तो कसाई होता।

दो वष के लिए कानपुर की लालइमली फम मे नौकर हो गए है। गाधीजी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ हो जाता है। पत्नी जुलूस का नेतत्व करने के लिए घर से निकल पडती है। वे स्वय जेल तो नहीं जा पाते पर तु नौकरी म हाथ अवश्य धो बठते है। उन्हे इस बात का सन्ताप है कि उनकी पत्नी देश के स्वतन्त्रता सग्राम मे भाग ले सकती है। भले ही भूख का देवता उनके परिवार को फिर से अपने आवरण म ले लेता है। वे मानते है कि साहित्यकार अपनी रचनाओ के माध्यम से ही देश का मागदशन करता है। सुप्रभात म सग्रहीत कहानियो म देश पर मर मिटने की आग तथा शासको के उग्र अत्याचार का विशद रूप उभरा है।

अतत वे बम्बई म आकर बस और सफल हुए। प्रेमचद भगवतीचरण वमा भगवतीप्रसाद वाजपेयी यहा तक कि पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र जसे लेखक भी जिस क्षेत्र मे नहीं टिक वहा उनका सफल होना इस बात का प्रमाण है कि वे मात्र आदशवादी नहीं व्यवहारकुशल भी थे। इसीलिए

वे उस गन्दी दुनिया में भागे नहीं परन्तु उसमें डूबे भी नहीं। उन्होंने अपने चारों ओर एक लक्ष्मण रेखा खींच ली थी। उसका लांघन करने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया—जैसे वे कभी किसी महिला सिने-कला-कार के साथ कार में भी नहीं बैठे।

आज ये सब बातें उपहासास्पद लगती हैं लेकिन जिस वातावरण में वे जिए थे वहां ऐसी बातों का निश्चित ही मूल्य था। यह भी ठीक है कि इस प्रकार की वर्जनाओं ने उनके अन्तर के कलाकार को धूमिल ही किया। यदि वे फिल्म-संसार में न आते तो शायद उनका कलाकार मुक्त होकर प्रकाश की ऊंचाइयों को छू सकता। जीवन की विवशताएं व्यक्ति की सहज आस्थाओं और आकांक्षाओं को इसी प्रकार कुंठित कर देती हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि ये कुंठाएं उनके जीने की चाह को कभी नहीं कुचल सकीं। इसीलिए वे अन्त तक मुक्तकंठ से हंसते रहे और उनकी सारी व्यथाएं उस हंसी में डूबती रहीं। उन्होंने सब आलोचना का कभी विरोध नहीं किया।

किसी ने उनसे पूछा था कि उनकी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी कौन-सी है? उन्होंने कहा था— मेरा सीधा उत्तर यह है कि मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी वह है जो अभी तक लिखी नहीं गई अर्थात जो अभी मन के गर्भ में है और कल का मतलब वह कल है जिसके बाद दूसरा कल न हो और सर्वश्रेष्ठ कहानी का मतलब वह कहानी है जिससे बढ़कर और कहानी लिखा जाने की सम्भावना न हो। इसलिए मैं इस प्रश्न का उत्तर तब दे सकता हूं जबकि मैं यह निश्चय कर लूं कि आज से लिखना बन्द कर दिया।

लेकिन यह निश्चय करने के पूर्व वे स्वयं ही अतीत बन गए। परन्तु क्या वे इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे गए? क्या उन्होंने यह प्रमाणित नहीं कर दिया कि वे अन्तिम क्षण तक लिखने की कामना रखते थे और किसी रचना की श्रेष्ठता का निर्णय पाठकों की कल्पना में ही हो सकता है, के मस्तिष्क में नहीं।

भवानी प्रसाद मिश्र

किसी का जानने का दावा सबसे बड़ा दम्भ है। इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक दम्भी व्यक्ति की तरह यदि मैं भी किसी और के बारे में लिखने का दावा लेकर अपने ही बारे में लिखने लगूं।

नाना कारणों से मैं तटस्थता की अजगरी वृत्ति का शिकार हो गया हूं। समझने लगा हूं कि वही एक मात्र शक्ति का मार्ग है लेकिन साथ ही यह अनुभव भी मुझे हुआ है कि इसी वृत्ति के कारण एक अजीब-सी सर्वग्रामी उदासी ने मुझे घेर लिया है। ऐसी स्थिति में एक दिन सहसा पटने का मिली एक कविता अकेला तो सूरज भी नहीं है।

उठो इस एकान्त से
दामन छुड़ाओ
इस महज शान्त से।
चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहां जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा में।
जहां अतर्कित प्रेम
कठोरताओं पर तरल है
सबके बीच में
जीवन सरल है
उठो इस एकान्त से

कवि का नाम है श्री भवानीप्रसाद मिश्र, जि ह प्यार स मित्र भवानी भाई कहते है। भवानी भाइ उन साहित्यकारो म अग्रणी है जो अपने यक्तित्व को कहा झुकने नही देते। उनकी जस सहज निभर की तरह झरती है वसा ही है उनका व्यक्तित्व। सहज सरल सौम्य और स्नहशील। स्वाधीनता सग्राम के सनिक और गाधी नीति मे रचे पचे वे अन्याय का प्रतिकार करने को सदा कटिबद्ध रहत है। इसीलिए उनकी उग्रता मे ताप नही है। इसलिए स्वाभिमानी हाकर भी व सौम्य हैं। बागला दश के प्रश्न का लेकर जब उ होने प्रधान मत्री को सम्बोधित करत हुए कहा था इदिरा गाधी तुम गाधी तो नहा हो। तो उस सात्विक *आवेश क पीछे अन्याय का प्रतिकार करन की भावना था।*

भवानी भाइ की कविता म नाटकीय तत्त्व प्रधान ह। सुनन म इसीलिए अच्छी लगती है। उनका व्यग कचोटता है तो गुदगुदाता भी है। हम उनके साथ साथ स्रोत म जस बहत चलत है पर वह बहना मात्र मनोरजन या आनन्द की अनुभूति ही नही है गहन म डूबना भी है। बिना डूबे चाट शक्ति कहा बनती है। चितन कारगर कहा होता है। आनन्द की अनुभूति तो तभी साथक होता है। नाटकीय तत्त्व के कारण चम त्कार का भ्रम वहा है पर वह गहन को ग्राह्य बनाने मात्र क लिए है।

उनकी कविता पढता हू तो खो जाता हू। चारो तरफ ही रहस्यमय है वह उस सहजगम्य हो जाता है क्योकि उनकी कविता जीवन की कविता है शौक की नही।

विच्छिन करता हू
अपना को जब दसरा स
तो खिन्न करता हू
अपना को और दूसरो को
अभिन्न करता हू जब
अपन को सब म
तो फूल खिलाता हू जस
चारो तरफ
उसरो को करता हू

हरा भरा
कण-कण, भरा भरा

जो कहते हैं व कहते हैं कि सरलता साहित्य नहीं है। न हो जीवन तो है। लेकिन भवानी भाई महज सरल ही हो सो बात नहीं। उनमें एक ऐसा तेज है जो उनकी प्रतिभा को गति ही नहीं देता, उनकी विनम्रता को गौरव भी देता है। वे बड़े प्यारे मित्र हैं पर खरे और स्पष्टवादी।

कूटनीति से उनका अपरिचय ही है। जो है बाहर भीतर एक है। तभी तो उनका व्यंग्य कभी कभी कटु भी लगता है पर वास्तव में कटु सत्य है। याद आता है—एक बार वे घर आए थे। बच्चे उन्हें कवि के रूप में पहचानते थे। इसलिए उनकी ओर से कविता सुनने का आग्रह अस्वाभाविक नहीं था परन्तु भवानी भाई बोले 'सुनाऊंगा पर आज नहीं। आज भोजन किया है। कोई तो ऐसा हो कि ।'

शब्द ठीक ही नहीं थे। शायद सुनकर बहुतों को अच्छा भी न लगा हो। पर दूसरे ही क्षण मैं तो गदगद हो गया था कि कोई तो ऐसा है। इसके और भी अर्थ लगाए जा सकते हैं, लेकिन मेरी दृष्टि में इसके पीछे न तो अभद्रता है और न अभिमान उपेक्षा की भावना। महज साहित्यकार की गरिमा की सहज अभिव्यक्ति है।

भवानी भाई गांधी युग के तपस्वी साधक हैं। कर्मठता और ईमानदारी उनकी शक्ति है। व प्रतिबद्ध हैं अपनी शक्ति के प्रति अपने व्यक्ति के प्रति और उसी के माध्यम से विराट मानव के प्रति। उनका भग्न स्वास्थ्य भी उनकी कार्यक्षमता के मार्ग की बाधा नहीं बन सका। हृदय रोग से पीड़ित होकर भी उनकी साधना की अखण्ड ज्योति जरा भी धूमिल नहीं हुई।

एक और पुरानी घटना स्मृति पटल पर उभर रही है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री चतुरसेन शास्त्री के घर पर कोई उत्सव था। शायद भाई की बेटी का विवाह था। अनेक मित्र आमंत्रित होकर आए थे। एसे वातावरण में कुछ बन्धु एक स्थान पर बैठे स्नेहपूर्ण हासविनोद में व्यस्त हो उठे। उनमें मिश्रजी भी थे। शास्त्रीजी ने खाने के लिए मिष्ठान्न भिजवा दिया था। इसलिए अट्टहास और भी जीवन्त हो ।

मिश्रजी के बिलकुल पास बैठा था कि सहसा देखता हूं, सनाहीन होकर कटे हुए वृक्ष की तरह वे मेरी गोद में गिर पड़े हैं। इस आकस्मिकता से मैं हतप्रभ रह गया। क्षण भर में सभी मित्र घिर आए। किसी तरह उठाकर उन्हें खाट पर लिटाया। इसी सनाहीन अवस्था में उन्हें वमन भी हो गई।

वहाँ के विवाह में यह कैसी त्रासदी। सभी व्यस्त होकर इधर उधर दौड़ने लगे लेकिन तभी क्या हुआ कि दो मिनट बाद ही मिश्रजी ने आंखें खोल दीं। इधर उधर देखा तुरन्त उठ बैठे बोले मैं बिलकुल ठीक हूं आप चिन्ता न करें।

और वे वैसे ही व्यवहार करने लगे जैसे दौरा पड़ने से पूर्व कर रहे थे। समझ गए थे कि कहाँ हैं। इसी एहसास ने उन्हें शक्ति दी और उन्होंने कहा टैक्सी मंगवा दीजिए मैं घर जाऊंगा।

अकेले घर जाओगे ?'

हां हां, भाई। मैं बिलकुल ठीक हूं।

पर मित्र नहीं माने। तुरन्त टैक्सी आ गई और उनके मना करने पर भी श्री उदयशंकर भट्ट उनके साथ गए।

एक दिन सात्विक स्वाभिमान देखा था उस दिन साहस देखा। लगा कि यह व्यक्ति कितना विवेकशील है। विवेक के अभाव में बुद्धि और प्रतिभा दिशाभ्रष्ट हो जाती है और व्यक्ति गर्हित अहं की अति का शिकार होकर मनुष्य को मनुष्य से दूर करता है।

पिछले 20 25 वर्ष से उनसे परिचित हूं। जैसा प्रारम्भ में कहा जानने का दावा तो दम्भ है पर दूर और पास से जितनी भी झलक देख पाया हूं उसके आधार पर इतना ही कह सकता हूं कि भवानी भाई में ऐसा कुछ अवश्य है जो उन्हें साधारण से अलग करता है और वह ऐसा कुछ न दम्भ का पर्यायवाची है और न मिथ्याभिमान का। वह है प्रतीक एक गांधी युग के साधक के सात्विक स्वाभिमान और विवेकशील प्रतिभा का।

भवानी भाई की मूर्ति की कल्पना करता हूं तो देखता हूं कि उनके मुख की सहज सौम्यता पर कभी कभी आग्रह और आवेश की छाया एेसे छा जाती है जैसे राहु केतु सूर्यचन्द्र को अपनी छाया में ग्रस लेते है। पर

यह उनका स्थायी भाव नही है। उनकी सबस बडी पूजी है उनके नत जो एक साथ स्नह और स्वाभिमान स छलकते हैं। उनका यह स्वाभिमान ही कभी भाया क प्रेम के रूप म, कभी देशभक्ति के रूप म आग्रह और आवेश का धम पदा कर दना है।

लेकिन गाधी नीति की नीव पर पनपी उनकी तेजस्विता उन्हें सदा सभी प्रकार की अतियो स मुक्त रखती है। इसलिए जहा उन्ह कभी चेतना म घबराहट हाती है वहा उनकी साधना उनके कवि को यह कहने क लिए विवश कर देता है

सकाजा मगर प्राणवत्ता का
रोज अनुक्षण
हवा म आवाज लगा रहा हू
मकन वाले तत्व
जीवन मे नहो हैं
मगर फिर भी किसी भरास क साथ
गाया उन्हें जगा रहा हू

यही प्राणवत्ता' कवि की नियति है और भवानी भाई को भी जिन्होंने नियति को अपनी शक्ति बना लिया है।

श्री रामधारीसिंह दिनकर

नियति भी कभी कभी तीखा व्यग्य करती है। 31 माच की रात का मद्रास म एक उद्योगपति के घर पर भोज का आयोजन था। मसूर क गवनर श्री मोहनलाल सुखाडिया और श्री रामनाथ गोयनका आदि अनक गण्यमान्य व्यक्ति उसम सम्मिलित हुए थ। अचानक अगल दिन होने वाले कवि सम्मलन की चर्चा चल पडी। गोयनकाजी बोल मैं तो दिनकरजी को मानता हू, आपने उन्ह तो बुलाया ही नहा।

किसी को क्या पता था कि दिनकर जी शीघ्र ही मद्रास आएग और फिर कभी नही लौटेंगे। सचमुच 24 अप्रल का उनकी आत्मा अचानक ही उनकी पार्थिव देह को छोडकर अनन्त म विलीन हो गई मात्र शरीर ही पटना पहुच सका।

उनका जाना आकस्मिक और असामयिक था पर साहित्य के क्षत्र म उनका उदय सहज भाव से हुआ था। उन्ह वह सब प्राप्त हो चुका था जो किसी साहित्यिक के लिए काम्य हो सकता है। सम्मान पद कीर्ति और अथ सभी ने तो उनका वरण किया था लकिन फिर भी उनक अन्तर म कहा दद था एक बचनी थी जिसक सूत्र खोजन का समय सम्भवत अभी नहा आया। शायद व्यक्ति दिनकर और साहित्यिक मनीषी दिनकर पूणत एकाकार नहीं हो पाए थ। व्यक्ति की समस्याए जहा साहित्यिक को प्रेरणा दती थी वहा आक्रान्त भी करती था।

लेकिन अभी रहन दें उस सूत्र का। अतीत म झाकता हू तो पाता हू कि जिन कवियो ने मेरे मन क आसन पर अधिकार जमा लिया था उनम

दिनकर प्रमुख थे। यह भी कैसा विरोधाभास है कि प्रकृति से नितान्त अहिंसक होते हुए भी मुझे से यासिया में सबसे प्रिय थे योद्धा संन्यासी विवेकानन्द और कवियों में औघड़पंथी कबीर। फिर निराला ने मुझे आकर्षित किया और उसके बाद आए दिनकर। एक दिन कबीर ने पुकारा था—

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर जारे आपना वह आए हमारे साथ॥

दिनकर' के जिस स्वर ने मुझे आकर्षित किया, वह भी वैसा ही तेजस्वी था—

सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

या फिर

तान तान फण व्याल कि तुझ पर बांसुरी बजाऊं।

गांधीजी की जो मूर्ति मेरे मानस पर अंकित है वह डाडी मार्च की मूर्ति है। एक दुबला पतला परम तेजस्वी मानव हाथ में लकुटिया लिए लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ समुद्र की ओर बढ़ रहा है मानो साहस की मूर्तिमान प्रतिमा त्रिलोकी को चुनौती देने चल पड़ी हो। इस सब में शरीर की वीरता कहीं नहीं है मनोबल ही है। यही मनोबल मुझे खींचता रहा। इसी कारण दिनकर मेरे प्रिय हो उठे। वे उन सर्वाधिक सामर्थ्यवान कवियों में थे जिन्होंने जनता के आक्रोश और विद्रोह को स्वर दिया। जनता के ओज को वाणी दी। वे सचमुच नव जागरण के चारण थे। इसी लिए जनता ने प्राण भरकर श्रद्धा उन्हें दी। राष्ट्रकवि का विरुद भी दिया।

गांधी युग में उन्होंने यश की सीमाओं को छुआ पर वे गांधीवादी नहीं थे। गांधी की अहिंसा को वे व्यक्ति के उत्थान तक ही स्वीकार करते थे। 'कुरुक्षेत्र' में ही उन्होंने अपनी इस मान्यता को स्पष्ट कर दिया था।

व्यक्ति का है धर्म तप करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी त्याग भी

किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।
या
त्याग तप करुणा क्षमा से भीग कर
व्यक्ति का मन तो बली होता मगर
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में पुकारा—

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग तप में काम ले यह पाप है
पुण्य है विछिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।

गांधी जी के प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते हुए भी परशुराम की प्रतीक्षा तक उनका यही स्वर रहा। अन्याय का प्रतिकार तो गांधी जी भी चाहते थे। पलायन और कायरता के वे परम शत्रु थे पर वे मारने से भी उत्तम साधन मानते थे मरने को और आत्म बलिदान को लेकिन वे यह भी कहते थे कि यदि कोई मर नहीं सकता तो कायर बनने से अच्छा है मारना। उनके लिए ओज और सामर्थ्य का अर्थ हिंसा नहीं था। अहिंसा के बिना ओज और सामर्थ्य उनके लिए व्यर्थ थे।

यह मतभेद बराबर बना रहा। और इसी सीमा तक मैं भी दिनकर को स्वीकार नहीं कर सका। जो व्यक्ति का धर्म हो सकता है वह समुदाय का भी हो सकता है होना चाहिए, लेकिन इसके कारण कवि दिनकर के प्रति मेरी भावना में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

लेकिन दिनकर जी मात्र ओज के ही कवि नहीं थे। दूसरे रसों में भी उनकी गति थी। अपने महाकाव्य उर्वशी के द्वारा उन्होंने रसों में श्रेष्ठ रस शृंगार रस का आश्रय लेकर मानव की शाश्वत समस्या को समझने और सुलझाने का भी प्रयास किया। वे कितने सफल रहे इसका निर्णय सदा विवादास्पद रहेगा पर ज्ञानपीठ पुरस्कार के अधिकारी होकर उन्होंने अपना वर्चस्व स्थापित तो कर ही लिया। आज कविता

अनेक परिवर्तनों को वहन करती हुई एक शिष्ट और व्यवहियत ढाँचे को तोड़ती हुई बहुत आगे बढ़ गई है, उसकी चर्चा करने का मैं अपने को जरा भी अधिकारी नहीं मानता पर इतना अवश्य कहना चाहूंगा कि जहां तक काव्य भाषा का सम्बन्ध है 'दिनकर' ने बोलचाल की भाषा को ही कविता की भाषा स्वीकार किया।

दिनकर मात्र कवि ही नहीं हैं चिन्तक भी हैं। साहित्य अकादमी ने उनके इसी रूप को स्वीकृति दी है 'संस्कृति के चार अध्याय' को पुरस्कार प्रदान कर। उसने उन्हें एक प्रमुख गद्य-लेखक की संज्ञा दी। भारतीय विचार परम्परा को जनसाधारण के लिए सहज स्वीकार्य बनाने की दृष्टि से ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। यह विद्वत्ता का जय घोष करने वाला ग्रन्थ नहीं है अपितु भारतीय संस्कृति को समझ सकने की सामर्थ्य देने वाला सन्दर्भ ग्रन्थ अवश्य है। उन्होंने भूमिका में स्वयं कहा है "मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य है एवं मेरे साहित्यिक जीवन का यश और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है किन्तु जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है उस परिश्रम से और कुछ नहीं लिखा... इस ग्रन्थ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सबसे करता हूं।"

उन्होंने काव्य की आलोचना को लेकर भी कई कृतियों का सृजन किया। बच्चों के लिए भी सुन्दर रचनाएं कीं। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनका इस प्रकार असमय में चले जाना दुखदाई है। विचारक या साहित्यकार की दृष्टि से नहीं बल्कि एक साधारण पाठक की दृष्टि से ही मैंने जो अनुभव किया वह लिखा है क्योंकि मैं यह स्वीकार करता हूं कि जनता से एकाकार होने वाले विरल लेखकों में से वे एक थे। यही तथ्य उनकी शक्ति थी और यही दुर्बलता भी। इसी नाते वे मुझे अपनी ओर खींचते रहे। इसी नाते मैं उनकी स्मृति के प्रति नत मस्तक हूं।

प० इन्द्र विद्यावाचस्पति

प० जवाहरलाल नेहरू ने मरी कहानी मे स्वामी श्रद्धान द के लिए लिखा है— विशुद्ध शारीरिक साहस का किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ सहने और मौत की परवा न करन वाली हिम्मत का मैं हमेशा स प्रशसक रहा हू । मेरा खयाल है कि हम मे स ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द म इस निडरता की मात्रा आश्चयजनक थी । लम्बा कद भ य मूर्ति स यासी के वेश मे बहुत उमर हो जाने पर भी बिलकुल सीधी चमकती हुई आखें और चेहरे पर कभी कभी दूसरो की कमजोरिया पर आन वाली चिड चिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना—मैं इस सजीव तसवीर का कस भूल सकता हू । अक्सर वह मरी आखा क सामन आ जाती है ।

इन्द्र जी इन्हा स्वामी श्रद्धान द (पूव नाम महात्मा मुशीराम) के पुत्र थे । उनके सम्ब ध म बिलकुल वसा कुछ तो नही कहा जा सकता लेकिन निश्चय ही वह उसी परम्परा म अवश्य थे । वह अपन पिता के पुत्र थे । भारतीय स्वतत्रता सग्राम के वह एक ऐस चरित्र थे जिनक बहुत महान हान की आशा थी, लेकिन किन्ही कारणो स वह आशा पूरी नहा हो सकी । जैसे किसी ने किसी पछी के पर काट लिए हा या सोत समय उस राजकुमारी क बाल काट दिए हो जिसकी सारी शक्ति उ ही बाला मे थी। इन्द्र जी इतिहास क एक दुखा त चरित्र बनकर रह गए लकिन फिर भी उनकी विशेषताए साधारण नही हैं। दु ख यही है कि उनका मूल्याकन नही हो पाया।

उनको प्रत्यक्ष देखने से पहले ही मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा पैदा हो गई थी। आर्यसमाज के प्रति मेरे प्रेम के कारण नहीं, इस कारण भी नहीं कि वह स्वामी श्रद्धानन्द के पुत्र थे, बल्कि इस कारण कि वह निडर और साहसी थे। किसी भी दबाव में आकर वह अपनी राय नहीं बदल सकते थे। उन्होंने उस समय भी राष्ट्रीय महासभा का साथ नहीं छोड़ा था जिस समय पंजाब केसरी लाला लाजपतराय और स्वयं उनके पिता उसके विरोध में खड़े हो गए थे।

मेरी श्रद्धा का एक और कारण भी था। वह लेखक थे और मैं लेखक होना चाहता था। लेखक के प्रति मेरी सहज आस्था थी और वह मात्र लेखक ही नहीं थे मेरे प्रिय लेखक थे। भाषा आन्दोलन के उत्तेजित क्षणों में भी वह कभी उग्र नहीं हुए। वस्तुतः वह कभी असंतुलित होते ही नहीं थे। उच्छ्वास उद्वेग से उन्हें प्रेम नहीं था। सहज भाव से सहज भाषा में संतुलित मन व्यक्त करना उनका स्वभाव था। हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में श्रद्धेय बाबूराम विष्णु पराड़कर अपने सम्पादकीय लेखों के कारण सुप्रसिद्ध थे। इन्द्र जी उनसे पीछे नहीं थे। विरोधी के दृष्टिकोण को समझ कर अपनी हार्दिक सहानुभूति देते हुए मत व्यक्त करना केवल इन्द्र जी का ही काम था। बहुत से सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकीयों में भी यह दृष्टि प्राय नहीं मिलती। यही विशेषता उन्हें कभी साम्प्रदायिक नहीं बना सकी। वह कभी निरे हिन्दू नहीं बन सके, मनुष्य ही बने रहे।

और वह केवल पत्रकार ही नहीं थे, यद्यपि हिन्दी पत्रकारिता की जड़ें जमाने में उनका योग अभूतपूर्व रहा है। कितना कुछ उन्होंने किया, कितनी साधना उन्होंने की इसका सही सही मूल्यांकन होना अभी शेष है। उस सबका खतियान कर अभी तक किसी ने देखा ही नहीं है। वह साहित्यिक थे स्वाधीनता संग्राम के सेनानी थे, राजनेता थे, शिक्षाविद थे और एक प्रसिद्ध आर्यसमाजी भी थे। कभी कभी उनके ये सभी रूप जो परस्पर विरोधी भी थे। उन्हें परेशान कर देते थे। लेकिन वह परेशान होते नहीं थे, क्योंकि उनमें जो समन्वय वृत्ति थी दूसरे को समझने का जो दृष्टिकोण था, वह सदा उन्हें ऊपर उठाए रखता था। और यह भी सच है कि

इसी समन्वय-वृत्ति के कारण वह किसी एक क्षेत्र में सर्वोपरि नहीं हो सके, इसीलिए जबकि उन्हें दिल्ली का बेताज बादशाह होना था वह राज्य सभा के एक सदस्य बनकर रह गए या गुरुकुल में समय व्यतीत करने को विवश हुए। यह बात नहीं कि इस क्षेत्र में उन्होंने मूल्यवान कार्य नहीं किया लेकिन वह इससे कुछ अधिक के लिए थे। और वह अधिक उनके हाथ में आ आकर रह गया। इसका कारण उनके पारिवारिक जीवन में खोजा जा सकता है लेकिन कारण की खोज अब व्यर्थ है। सत्य इतना ही है उनसे कुछ आशाएं थीं जो पूरी नहीं हो सकीं।

इन्द्र जी साहित्यिक थे। आज जिस तीव्र गति से मूल्य बदल रहे हैं उसको देखते हुए, उनका नाम यदि हम भूल गए हैं तो इसके लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। लेकिन एक समय था कि जिस प्रकार उनके सम्पादकीय लेखों से स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक अनुप्राणित होते थे उसी प्रकार उनकी साहित्यिक रचनाओं ने भी अनेक पाठक पैदा किए। इतिहासकार के रूप में उनका योगदान कम नहीं है। बल्कि उपन्यास लेखक से अधिक वह एक इतिहासकार के रूप में याद किए जाएंगे। उनके संस्मरण उनके इतिहास ग्रंथ हिन्दी साहित्य की निधि बनकर रहेंगे। इसका भी कारण उनकी वही समन्वय और संतुलन वृत्ति है। कथा-साहित्य में यह वृत्ति इतनी प्रभावशालिनी नहीं होती, जितनी संस्मरण और इतिहास लेखन में। उनकी सहज सरल भाषा, सहज सुगम शैली स्पष्ट सुलझे हुए विचार सब मिलाकर एक ऐसा चित्र पाठक के मन पर अंकित करते हैं कि वह उसे कभी भूल नहीं पाता। और उसका अर्थ समझने के लिए उसे द्राविड प्राणायाम भी नहीं करना पड़ता। यह गुण इतिहास का है कथा साहित्य का नहीं। फिर भी अपने समय में उनके उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय हुए।

याद आता है कि आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व मेरी एक कहानी की समालोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि *यह कहानी इसलिए अधिक* रोचक और प्रभावशाली हो सकी है कि इसकी शैली ऊबड़-खाबड़ है।

ऊबड़ खाबड़ शब्द का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि वह उस शैली को पसंद नहीं करते थे। वह साफ सपाट शैली के समर्थक थे लेकिन

यह भी सत्य है कि वह कहानी उन्हें अच्छी लगी थी। और अच्छी लगने का कारण उनकी अपनी शैली से भिन्नता थी। भिन्नता का अर्थ यहां नवीनता भी लिया जा सकता है। अर्थात जिस वातावरण में वह रमे हुए थे, उससे मुक्ति पाने की चाह उनमें थी। यही विकसित होना है। इस दृष्टि से इन्द्रजी सदा नये का स्वागत करने को तैयार रहते थे। इसीलिए उनमें दूसरे का दृष्टिकोण समझने की शक्ति थी। बस उस कहानी का अच्छा लगने का एक और भी कारण था। वह था आर्यसमाज का उग्र सुधारवाद। प्रचलित रीति-नीति का घोर विरोध करते हुए उसमें मैंने विधवा के मुक्त प्रेम का समर्थन किया था।

इन्द्र जी की एक और विशेषता जो उन्हें लोकप्रिय बनाती थी, वह थी मुक्त मन से अपने को खोल देने की प्रवृत्ति। मित्रों में बैठकर जब वह बातें करते थे तब सीमाएं उनको बांधती नहीं थीं। सीमा मुक्ति से यहां अर्थ उच्छृंखलता नहीं है अपितु स्पष्टता है। श्री महावीर त्यागी की चर्चा करते हुए वह किस्सों पर किस्से सुनाते चले जाते थे। जिस समय त्यागी जी पहली बार मंत्री बने थे उस समय बहुत से व्यक्ति इन्द्र जी को भी परेशान करते थे। इन्द्र जी त्यागी जी के साढ़ू थे। और जैसा कि हम अभागे देश में नियम बन गया है तब भी कोई काम बिना सिफारिश के नहीं होता था। लेकिन इन्द्र जी ने शायद ही कभी इस काम में रुचि ली हो। एक दिन कहने लगे—'जब कोई मेरे पास आता है तब मैं उनको त्यागी जी का वह किस्सा सुना देता हूं जिसमें उन्होंने अपने किसी नातेदार की एक ऐसे अवसर पर अच्छी तरह खबर ली थी। उन्हें घर से चले जाने तक को कह दिया था। कह देता हूं कि मुझे अपना मान प्रिय है। मेरे कहने या साथ जाने पर आपका होता हुआ काम भी नहीं होगा।'

हम नहीं जानते कि यह बात कितनी सत्य है लेकिन त्यागी जी की इस विशेषता के बारे में दूसरे लोगों से भी हमने ऐसा ही कुछ सुना है। केवल त्यागी जी के विषय में ही नहीं दूसरे प्रसंगों में भी हमने इन्द्र जी के खरेपन का परिचय पाया। यह खरापन उनमें अन्त तक बना रहा। उनकी सहजता का यह एक प्रमुख आधार था यद्यपि इसके कारण उनको बहुत बार गलत समझा गया। और इसी के कारण बार-बार उन्हें

असफलताओं का सामना करना पडा।

लगभग चालीस वष की अवधि म जब कि मैंने उनका नाम सुना और फिर उन्हें पास स देखा उनकी सारी दुबलताओ क बावजूद एक एम आकषण का अनुभव किया जो किसी को अपनी ओर खीचता ही नहा प्रशसा स भरता भी है। वह विद्वान थ परन्तु उनकी विद्वत्ता आतकित नहीं करती थी। वह नेता थ परतु उनका नेतत्व परेशान करन वाला नहीं था। इसीलिए वह सही अर्थों म न विद्वान बन सके न नेता। वह मात्र एक तेजस्वी पत्रकार एक सरस साहित्यिक और एक रचनात्मक शिक्षाविद बनकर रह गए। उनकी प्रवत्तिया इतन क्षत्रा म बिखर गइ कि वह किसी भी एक क्षत्र म शिखर तक नहीं पहुच सक। मनुष्य है तो दुबलताए भी उसम होती ही हैं। कुछ मनुष्य होत हैं जो इन्हीं दुबलताओ को अभूतपूव सफलताओं का आधार बना लेत हैं लकिन दूसरे प्रकार के व भी मनुष्य होते हैं, जिनके सिर पर य दुबलताए चढ बठती हैं। और फिर व अनजाने अनचाहे उनके शिकजे म फसकर रह जात हैं। इन्द्र जी उन्हा दूसरे प्रकार क व्यक्तियो म स थ। वह एसे राजनीतिज्ञ नहीं थ कि इस शिकजे को तोड सकते इसीलिए वह एक साधारण मनुष्य बनकर रह गए। और एक क बाद एक असफलता उन्हे परेशान करती रही। दुर्भाग्य स आज मनुष्य का मूल्य सफलताओ स आका जाता है लकिन वास्तव म आज के सदभ मे सफलता मनुष्य की नहा शतान की कसौटी है। इस कसौटी को हटाकर जब इन्द्र जी का मूल्याकन होगा, तब एक ऐस मानव के दशन होगे जो सफलताओं और असफलताओ स परे सचमुच मानव होता है।

लेकिन क्या कभी ऐसा होगा ?